श्रीमद्वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गता-तृतीया

सिद्धान्तमुक्तावली ।

श्लोकार्थ, श्रीमत्प्रभुचरणकृत विवृति, श्रीगोकुलनाथचरणकृत विवृतिटिप्पणी,
श्रीकल्याणरायचरणकृत विवृतिटिप्पणी, श्रीपुरुषोत्तमचरणकृत विवृतिप्रकाश,
श्रीलालूभट्टजीकृत योजना एवं श्रीद्वारकेशचरणकृत विवृतिटिप्पणी के हिंदी-अनुवाद

एवं

प्राची

टीका सहित)

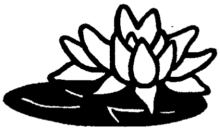

☐ संपादक व लेखक ☐

गोस्वामी राजकुमार

☐ प्रकाशक ☐
गोस्वामी राजकुमार नृत्यगोपालजी
"चरणाट" बंगला नं. 5, ठाकुर विलेज, ठाकुर डिग्री कॉलेज के सामने,
कांदिवली (पूर्व), मुंबई - 400 101 • दूरभाष : 2884 6506 मो. : 9769623724
वि. सं. 2069 • वल्लभाब्द 535

प्रति : 1000

पूर्वप्रकाशितग्रंथ

1. भक्तिवर्धिनी ।
2. चतु:श्लोकी ।
3. सिद्धान्त-रहस्यम् ।
4. विवेकधैर्याश्रयः ।
5. अन्तःकरणप्रबोधः ।
6. कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।
7. नवरत्नम् ।
8. निरोधलक्षणम् ।
9. सेवाफलम् ।
10. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: ।
11. जलभेद: ।
12. पञ्चपद्यानि ।
13. श्रीयमुनाष्टकम् ।
14. संन्यासनिर्णयः ।
15. बालबोधः ।

प्राप्ति स्थान :

गोस्वामी राजकुमार नृत्यगोपालजी

1) गोविंद भवन,
बृहन्मन्दिर, 3 रा भोईवाड़ा,
भुलेश्वर, मुंबई - 400 002.

2) "चरणाट" बंगला नं. 5, ठाकुर विलेज,
ठाकुर डिग्री कॉलेज के सामने,
कांदिवली (पूर्व), मुंबई - 400 101.
दूरभाष : 2884 6506

श्रीवीरेन्द्र प्रियकांत कोठी

38, बोरा बाजार स्ट्रीट, 5 वाँ माला,
फोर्ट, मुंबई - 400 001.
दूरभाष : 2032 9529 / 98207 17715.

श्रीसुरेंद्र शाह

E-503, पुष्पा हेरीटेज,
पंचशील गार्डन के सामने, महावीर नगर,
कांदिवली (प.), मुंबई - 400 067.
दूरभाष : 2863 2396

पुरोवाक्

॥ विजयते श्रीबालकृष्णप्रभुः ॥ ॥ विजयते श्रीमदनमोहनप्रभुः ॥

समस्तषोडशग्रन्थसंस्कृतटीकानुवादश्रंखला अब इस ग्रन्थ के संग समाप्त होती है। कार्यनिमित्तत्वेन अपने आप को परमसौभाग्यवान मानता हूँ कि प्रभु ने, श्रीआचार्यचरणों ने दाससेवा स्वीकार की। इनके ही कृपाबल से कार्य आगे बढ़ता चला गया और आज परिपूर्ण भी हो गया।

श्रंखला में कठिनतम ग्रन्थ यही था, जिसने परीक्षा लेने में कोई भी कसर नहीं छोड़ी। वास्तविकता तो यह है कि लगभग 3 माह पूर्व मैं मन ही मन इस ग्रन्थ को छोड़ देने का निश्चय कर चुका था। पंडित श्रीधीरेन्द्र शास्त्रीजी के भरसक प्रयत्नों के उपरान्त भी कई अंश मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आ रहे थे। कोई भी दिशा नहीं सूझ रही थी, मन खिन्न हो गया, क्या करूँ ! विशेषतया इस ग्रन्थ पर उपलब्ध 9 टीकाओं में से 2 टीकाएँ श्रीवल्लभजी एवं श्रीव्रजनाथजी की हैं, जो लगभग 90% समान हैं; शब्द, वाक्य सभी कुछ एक जैसे, कुछ अंशों को छोड़कर। ये 10% अंश वो है, जो श्रीव्रजनाथजी ने श्रीवल्लभजी की टीका में अपनी ओर से भी कुछ जोड़कर लिखा है, इसके अतिरिक्त तो दोनों ही टीकाएँ एक समान हैं। दोनों ही पूर्वाचार्यों ने मूलश्लोक एवं श्रीप्रभुचरणों की विवृति के शब्दों पर टिप्पणी लिखी है। अधिकतर तो मात्र शब्दों का अर्थ बता कर आगे बढ़ चले हैं। कहीं पर व्युत्क्रम भी किया है। ऐसी परिस्थिति में इनकी टिप्पणी का क्रमबद्ध शैली में वाक्यों से वाक्यों की कड़ी जोड़ते हुए सामान्यपाठकों को गतार्थ हो सके, ऐसा अनुवाद लिख पाना लगभग असंभव कार्य था। लिख देने पर भी वाक्यों का आपसी तालमेल बैठता न होने के कारण अनुवाद बीच-बीच में टूट रहा था, क्रमबद्धता नहीं आ पा रही थी। अनुवाद करने के उपरान्त भी कुछ गतार्थ न हो पाता अतः इन दो टीकाओं का अनुवाद नहीं छपवाया है। साथ ही साथ, प्रस्तुतग्रन्थ पर श्रीहरिरायजी का एक स्वतन्त्रलेख भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह लेख त्रुटित प्राप्त हुआ होगा क्योंकि वाक्यों का तात्पर्य समझ में नहीं आता एवं परस्पर संगति भी नहीं बैठती, सो इसका भी अनुवाद नहीं हो पाया।

श्रीलालूभट्टजी ने अपनी समस्त टीका में अद्वैतसिद्धान्त/मायावाद का निरसन करके शुद्धाद्वैत/ब्रह्मवाद का स्थापन किया है। आपश्री ने अपनी संपूर्ण टीका वेदान्त एवं न्याय की शैली में लिखी है, जिसको पढ़ने, समझने और लिखने में स्मरण नहीं आता कि कौन कौन से कष्टों का अनुभव नहीं किया। और मेरी तुलना में कई गुना अधिक मुझे पढ़ाने में पंडितजी ने। साथ ही साथ श्रीपुरुषोत्तमचरणों की टीका के कुछ अंश तो ऐसे रूस कर बैठे कि कभी मानेंगे ही नहीं। शेष टीकाओं के भी कई अंश समझ में नहीं आ रहे थे, हिम्मत बस दिन प्रतिदिन चरमराए जा रही थी। इस ग्रन्थ के लिए नियमित अंतराल पर 2 अध्यापनसत्र और 3 संशोधनसत्र, यों कुल 5 सत्र हुए एवं तदतिरिक्त दूरभाष पर अनेकों बार विमर्श भी, परन्तु मेरी सीमितबुद्धि के आगे पंडितजी को भी घुटने टेक देने पड़े। अंततोगत्वा कोई किसी को कितनी सीमा तक पढ़ा/समझा सकता है ! किन्तु, ग्रन्थ प्रकाशित न होने का खेद उन्हें भी था, उन्होंने मेरा निर्णय अन्त तक नहीं स्वीकारा।

ऐसे में दैवयोग से चतुर्थपीठाधीश्वर श्रीमान् देवकीनन्दनाचार्यजी(गोकुल)से संपर्क हुआ। आपश्री ने ढाँढस बँधाया और समस्त कठिनांशों का निराकरण करने का विश्वास दिलाया। बस, फिर क्या था, निरन्तर 10 दिनों तक लगभग ढाई-तीन घण्टों तक प्रतिदिन दूरभाष पर चर्चा-विमर्श होता रहा और अंत में समस्त कठिनांशों का निराकरण हो गया। पं0 श्रीधीरेन्द्र शास्त्री पहले से ही संपूर्णग्रन्थ व्यवस्थित ढंग से पढ़ा कर कई महीनों से परिश्रम कर चुके थे जिसके कारण मैं 90% तक अनुवाद लिख चुका था और शेष बचे 10% प्रतिशत कठिनांशों का निराकरण आदरणीय महाराजश्री ने कर दिया, फलस्वरूप प्रस्तुतग्रन्थ प्रकाशित हो पाया। ये तो इन दोनों महानुभावों की ही सामर्थ्य है कि, जो इतने गंभीर, गूढ, कठिनतम विषयों को मुझ जैसे अल्पज्ञ को समझा पाए। इन्होंने बड़े ही स्नेह एवं धैर्य से मुझे पढ़ाया है। जीवन के कुछ ऋण ऐसे होते हैं, जो कभी चुकाए नहीं जा सकते, यह ऋण वही है।

परन्तु, उधर प्रभु तो कुछ दूसरी ही लीला करना चाह रहे थे। इतना मानों कम था, जो सहसा ही एक दिन मुझे ज्ञात हुआ कि मेरे संगणक में से श्रीपुरुषोत्तमचरणों की टीका का लगभग 25% भाग अपने आप ही मिट गया। मैं हतप्रभ रह गया ! अवाक्, विवश। इतने दिनों तक दोनों ही महानुभावों से चर्चा-विमर्श करने के पश्चात् जो लिखा, वो सब मिट गया। विश्वास ही नहीं हुआ, संगणकसम्बन्धी सारी युक्तियाँ प्रयोग करके देख लीं, संगणकनिपुणों से भी सहायता ली, परन्तु जो मिट गया वो पुनः प्राप्त नहीं हो पाया। अब उतने अंश को पुनः लिखना और व्यवस्थित लिखना, और कहीं कोई चूक न हो जाय इस प्रकार से लिखना, इतनी हिम्मत मुझमें नहीं बची थी। क्योंकि ताज़ा-ताज़ा पढ़कर, समझकर चिन्तन करते हुए जो ताज़ा-ताज़ा लिखा था, कोई आवश्यक नहीं कि वैसा चिन्तन अब फिर से भी हो पाए।

इस घटना के पश्चात् लगभग 7 दिनों तक मैंने कुछ भी नहीं किया। हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा। बस प्रवृत्ति ही नहीं हो पा रही थी। एक दिन प्रभुप्रेरणा से पुनश्च कार्य आरम्भ किया और शनैः शनैः धैर्यपूर्वक उतने अंश को फिर से लिखा। आज विश्वास ही नहीं होता कि ग्रन्थ प्रकाशित भी होने जा रहा है, सभी कुछ स्वप्नवत् लगता है।

मैं नहीं जानता कि मैं इससे अधिक लिख सकता हूँ या नहीं अथवा इन टीकाओं का इस सीमा से अधिक अनुवाद करना शक्य है या नहीं। विशेषकर प्रस्तुतविषय का। इसलिए सामान्यपाठकों को गतार्थ हो सके और रोचकता भी बनी रहे, इस दृष्टि से अनुवाद किया है। संक्षेप में केवल इतना कहूँगा कि प्रस्तुत अनुवाद से सामान्यपाठकों को पदार्थज्ञान अवश्य हो जायेगा, मार्ग की प्रारम्भिक समझ रखने वालों को विशेष सहायता मिलेगी एवं विद्वज्जनों को तोष होगा। मेरी सामर्थ्य यहीं तक की थी, मैं इतना ही दौड़ पाया। मैं चाहता हूँ, अब अन्य कोई इस कार्य का बीड़ा उठाए और इसे सुधारे, सजाए, सँवारे।

मैं नतमस्तक होकर पूर्णदीनभाव से इस बात को स्वीकारता हूँ कि, यथासंभव प्रयास करने के उपरान्त भी इस ग्रन्थ में एवं अन्य ग्रन्थों में भी मुझसे चूक अवश्य हुई ही होगी। इसमें संपूर्ण दोष मेरा ही है। मेरे अध्यापकों ने तो मुझे यथार्थज्ञान ही करवाया परन्तु मेरी सीमितबुद्धि उसे यथावत् ग्रहण नहीं कर पायी होगी। समस्त भूलों के लिए मैं प्रभु से, आचार्यचरणों से, तदात्मजद्वय से, प्राचीन टीकाकारों आदि से, अपने बड़ों-छोटों से एवं अन्यान्य सभी विद्वज्जनों से मस्तक झुकाकर क्षमायाचना करता हूँ। आशा करता हूँ, मेरे भावों को समझते हुए वे अवश्य दिशानिर्देश करेंगे।

इस श्रंखला में विशेषरूप से पं0 श्रीवसंत चतुर्वेदीजी(मथुरा)का आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मुझे प्रारम्भिक पदार्थज्ञान करवाया, टीकाएँ पढायीं और श्रंखला को आरम्भ करने में हिम्मत दी। पं0 श्रीधीरेन्द्र शास्त्रीजी(मथुरा)को जितने भी धन्यवाद दूँ कम हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ के संग-संग दूसरे कई षोडशग्रन्थ समस्त टीकाओं सहित एवं अन्य ग्रन्थ भी मुझे पढ़ाए हैं। इतना ही नहीं, अनुकूलता-प्रतिकूलता का विचार किए बिना इस श्रंखला को प्राथमिकता देते हुए सर्वप्रथम मुझे समय दिया है। यदि ये इतना समय देकर न पढ़ाते, तो मेरे लिए यहाँ तक पहुँचना कोरा स्वप्न ही था।

चतुर्थपीठाधीश्वर श्रीमान् देवकीनन्दनाचार्यजी(गोकुल).........
आपश्री के लिए क्या कहूँ ! अनुवाद में कहीं त्रुटि न रह जाय, कहीं बात सिद्धान्त से विपरीत न चली जाय, अन्यथा अर्थ न हो जाय- इन सभी मुद्दों की चिन्ता मुझसे अधिक आपश्री को थी। जहाँ-जहाँ, जब-जब मुझे समस्या हुई, मैंने आपश्री से संपर्क किया और तब-तब आपश्री ने निरुपधिभावपूर्वक पुत्रवत् स्नेह रखते हुए निराकरण किया है; आपश्री का आभार प्रकट करना तो इसके सामने बड़ी तुच्छ बात होगी। घण्टों विमर्श कर लेने के पश्चात् आपश्री आज्ञा करते- "फिर भी कछु सन्देह रह जाय तो फिर सू फोन करियो"। आपश्री के चरणकमलों में सदैन्य प्रणाम। जुग जुग राज करो श्रीगोकुल.........

श्रीवीरेन्द्र कोठी ने पूर्ववत् प्रकाशनसम्बन्धितकार्य बड़ी कुशलता से संभाला है। पिछले लगभग 6-7 ग्रन्थों से संस्कृतटंकन का कार्य मैंने किसी अन्य को सौंप रखा है एवं हिन्दीटंकन मैं स्वयं करता हूँ। वे किसी अन्य प्रणाली द्वारा संस्कृतटंकन

करते हैं और मैं किसी अन्य प्रणाली द्वारा। परन्तु जब इन दोनों को जोड़कर अनुच्छेदों में ग्रन्थ तैयार करने का अवसर आता है, तब कदाचित् संगणक दोनों भिन्न-भिन्न पद्धतियों को एक संग स्वीकार नहीं कर पाता होगा इसलिए संगणकसम्बन्धी कई गड़बड़ियाँ अपने आप ही उत्पन्न हो जाती हैं। कभी संस्कृत एवं हिन्दी की पंक्तियाँ एक दूसरे में मिल जाती हैं। कभी पंक्तियाँ ही मिट जाती हैं, तो कभी सारे के सारे संयुक्त अक्षर स्वतः ही कुछ विचित्र आकृतियों में बदल जाते हैं इत्यादि। परन्तु मेरे सुख का विचार करते हुए श्रीकोठी स्वयं ही दिन-रात बैठकर समस्त संशोधन करते रहे हैं। तिस पर भी मेरा स्वभावदोष कि ग्रन्थ की झुँझलाहट कई बार मैंने उन पर ही उतारी है। मैं क्षमाप्रार्थी हूँ और वे अतिधन्यवाद के पात्र। प्रकाशन भी वे व्यावसायिकलाभ के बिना ही करते हैं। छायाबेन कापड़िया ने भी प्रस्तुतग्रन्थ आरम्भ में 4-5 बार संशोधित कर दिया था, जिससे मुझे अंतिमसंशोधन में तनिक भी परिश्रम न करना पड़ा, उन्हें भी अनेकों धन्यवाद।

श्रंखला के आरम्भ से लेकर अंत तक के इन 14 वर्षों में भगवत्सेवा, गृहस्थी, पुत्र, परिवारजन, अनुयायीजन इत्यादि पर मैं बिल्कुल ही ध्यान नहीं दे पाया हूँ। स्मितमुख सभी झंझटों को स्वयं ही झेलते हुए, गृहकार्य-भगवत्सेवा इत्यादि संभालते हुए, संशोधनकार्य भी करते हुए, यदाकदा टीकान्तर्गत कुछ मुद्दों पर विमर्श भी करके, मुझे अपना कर्तव्य करने का पूर्ण अवसर देते हुए धर्मपत्नी भी निर्विवादरूप से इस श्रंखला से अक्षुण्ण जुड़ी रही है। इन सभी के बिना यह कार्य न हो पाता।

यह ग्रन्थ मैं मेरे समस्त अध्यापकों को समर्पित करता हूँ,
इति शमित्यलम् ,
कार्यपूर्णता के आनन्द में हिलोरें लेते हुए,

गो० राजकुमार

(फागुन कृष्णपक्ष 10, वल्लभाब्द 535, विक्रमाब्द 2069, तदनुसार दिनांक 5 अप्रैल, 2013)

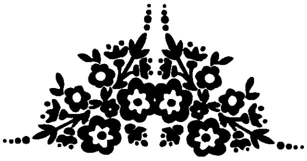

ग्रन्थरचयिता जगद्गुरुश्रीमद्वल्लभाचार्यजी

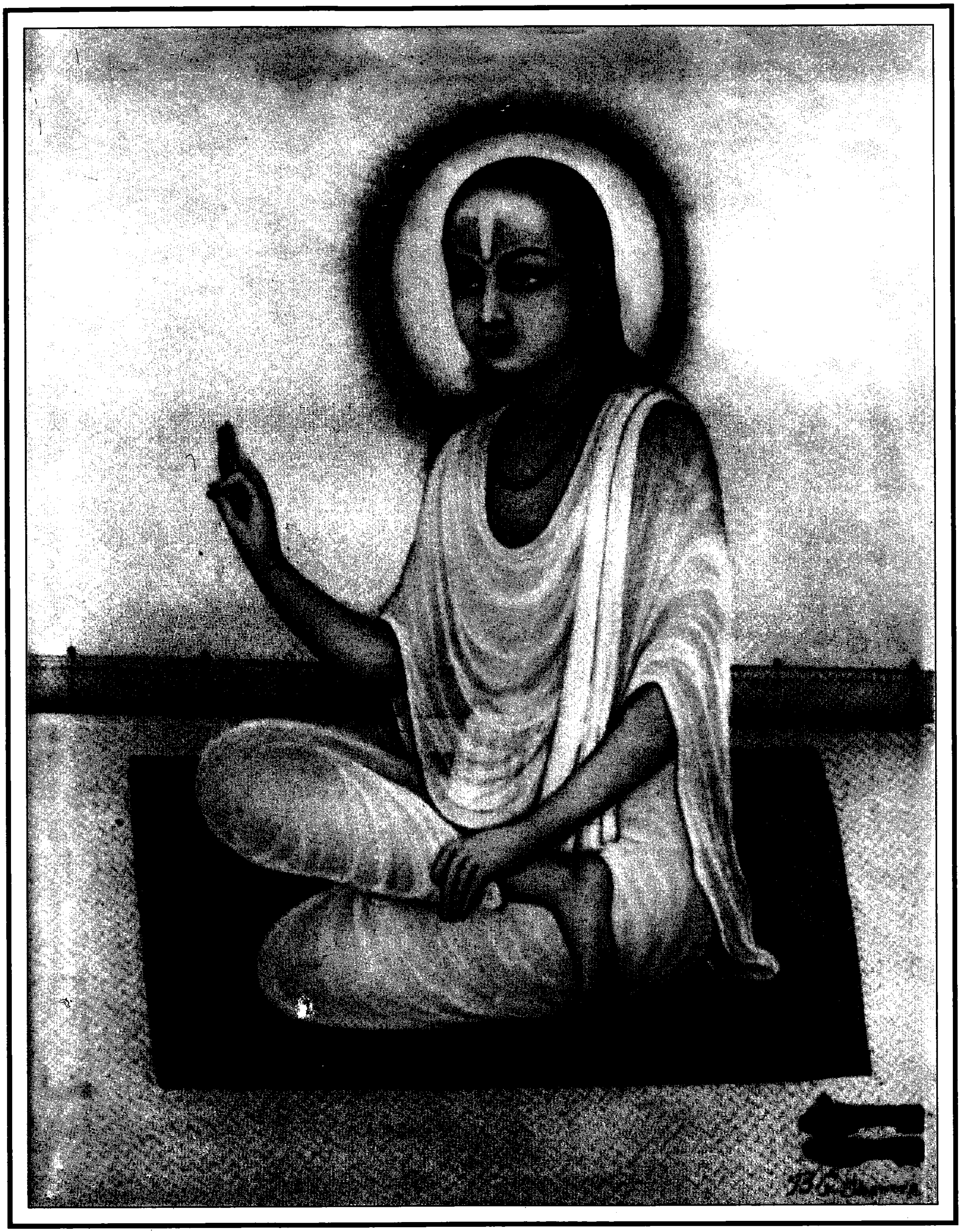

श्रीमद्वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गता-तृतीया

सिद्धान्तमुक्तावली ।

अनुक्रमणिका

क्रमांक	प्रकरण	पृष्ठसंख्या
१.	सिद्धान्तमुक्तावली श्लोकार्थ	१
२.	श्रीमत्प्रभुचरणानां विवृतिः	५
३.	श्रीगोकुलनाथानां विवृति टिप्पणी	१७
४.	श्रीकल्याणरायाणां विवृति टिप्पणी	२२
५.	श्रीपुरुषोत्तमानां विवृति प्रकाशः	२७
६.	श्रीलालूभट्टानां विवृति टिप्पणी	६२
७.	श्रीद्वारकेशानां लेखः	८६

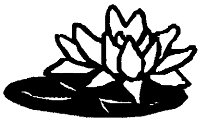

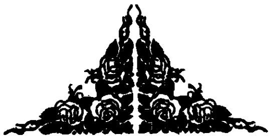

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

सिद्धान्तमुक्तावली ।

श्लोकार्थ

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम् ।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ।।१।।

(*एतन्मार्गीय सिद्धान्त कृष्णसेवा है*)

हरि को नमस्कार करके अपने मार्ग के सिद्धान्त को भलीभाँति निश्चयपूर्वक कहेंगे।

अपने मार्ग का सिद्धान्त यह है कि, कृष्णसेवा सदा करनी चाहिए; और यदि वह मानसीरूप में सिद्ध हो जाय, तो श्रेष्ठ मानी गयी है ॥1॥

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा ।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् ।।२।।

(*सेवा किसे कहते हैं, उसे कैसे सिद्ध किया जाय और सेवान्तर्गत क्या अवान्तरफल(गौणफल) प्राप्त होते हैं*)

चित्त के प्रभु में लग जाने को सेवा कहा जाता है; और ऐसी सेवा सिद्ध करने करने के लिए तनुवित्तजासेवा करनी चाहिए। तनुवित्तजासेवा करने की प्रक्रिया में संसारदुःखों की निवृत्ति होती है एवं ब्रह्मस्वरूप का बोध होता है ॥2॥

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ।

(*जिनकी सेवा करनी है, उन परब्रह्म का स्वरूप क्या है*)

परब्रह्म तो कृष्ण ही हैं एवं बृहत्(अक्षरब्रह्म) सच्चिदानन्दात्मक है अर्थात् अक्षरब्रह्म में सत्, चित् आनन्द ये तीनों धर्म हैं।

द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम् ।।३।।

(*अक्षरब्रह्म का स्वरूप क्या है*)

बृहत्(अक्षरब्रह्म) के दो रूप हैं। (1)एक रूप तो यह कि वह जगतरूप से सभी कुछ बन जाता है। (2) और जो दूसरा रूप है, वह इससे विलक्षण(अलग)है ॥3॥

अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः ।
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा ।।४।।
तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम् ।

(*जगत का निर्माण होने के संदर्भ में अन्य दूसरों के मत क्या हैं*)

पहले वाले जगतरूप अक्षरब्रह्म के विषय में वादियों ने वेद से भिन्नतया दूसरे अनेक प्रकारों से कहा है,

जैसे कि 'मायिक(अद्वैतवादी)','सगुण(सांख्यवादी)','कार्य(नैयायिक)','स्वतन्त्र(मीमांसक)' इत्यादि अनेक प्रकार से कहा है ॥4॥

परन्तु श्रुति का मत यह है कि, यह अक्षरब्रह्म ही जगतरूप से परिणित हो जाता है।

द्विरूपं चापि गङ्गावज्ज्ञेयं सा जलरूपिणी ।।५।।
माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा ।
मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम् ।।६।।

(*अक्षरब्रह्म का स्वरूप क्या है, अक्षरब्रह्म जब जगत के रूप में परिणित हो जाता है तब जगत का स्वरूप क्या है एवं गंगा के दृष्टान्त द्वारा ब्रह्म के तीन स्वरूपों की समझ*)

अक्षरब्रह्म के उपर्युक्त दोनों रूपों को गंगा की भाँति समझ लेना चाहिए; जैसे गंगा का एक रूप तो जलरूपा है,॥5॥

और गंगा के माहात्म्य को समझते हुए जब मनुष्य मर्यादामार्गीयविधि से उसका सेवन(स्नान-पान-पूजन-अर्चन)करते हैं, तो वह भुक्तिमुक्ति देने वाली बनती है-यह गंगा का दूसरा रूप है अर्थात् तीर्थरूपा गंगा । ठीक इसी प्रकार अक्षरब्रह्म के भी दो रूप समझ लें ॥6॥ अर्थात् जो जगतरूप से परिणित हो गया है वह अक्षरब्रह्म का एक रूप है और अक्षरब्रह्म का माहात्म्यज्ञानपूर्वक समझते हुए उसकी उपासना करने से जो मुक्ति देता है, वह उसका दूसरा रूप है।

तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित् ।
गंगायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्धये ।।७।।

किन्तु गंगा का एक तीसरा रूप भी है, और वह यह कि गंगा के जल में ही गंगा का एक देवीरूप भी है, जो कि भक्ति से ही कभी किसी को दिखाई देता है; अर्थात् गंगाप्रवाह को विशेषरूप से गंगा से अभिन्न मानने वाले को दिखाई देता है॥7॥

प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात्तया जले ।
विहिताच्च फलात्तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते ।।८।।

किन्तु गंगा इस तीसरे रूप में सभी के सामने प्रत्यक्ष नहीं होतीं। जिसे गंगा के देवीरूप से प्रत्यक्ष दर्शन हो चुके होते हैं, उसका फिर गंगा के जल के प्रति भी प्राकाम्य हो जाता है। 'प्राकाम्य' का अर्थ है- देवीरूपा गंगा के दर्शन कर लेने के कारण फिर वो गंगा के जल के प्रति भी अलौकिकव्यवहार करने लगता है, निषिद्ध व्यवहार नहीं करता अपितु अनिषिद्धव्यवहार करने लगता है क्योंकि वह जल में संन्निहित देवीरूपा गंगा के दर्शन कर चुका होता है। आचार्यचरण इस दृष्टान्त से यह कहना चाह रहे हैं कि, ठीक इसी प्रकार जिसे भगवद्दर्शन हो चुके होते हैं, फिर वो इस जगत को भी, जो कि ब्रह्म का आधिभौतिकस्वरूप है, भगवत्स्वरूप की दृष्टि से ही देखने लगता है, फिर जगत के प्रति उसकी भौतिकदृष्टि नहीं रहती, उसे सर्वत्र जगत/प्रपञ्च में भगवदनुभव ही होता है- यह अर्थ है। फिर ऐसे भक्त के लिए गंगा का जल शास्त्रों में या पुराणों में बताए गए गंगा से प्राप्त होने वाले फल से भी अधिक विशिष्ट मायने रखता है, साथ ही साथ उसे स्वयं हो चुकी गंगादर्शन की प्रतीति के कारण भी उसके लिए गंगा का जल विशेष बन जाता है ॥8॥

यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत् ।
यथा देवी तथा कृष्णः

जिस प्रकार (1)गंगा का एक जलरूप है, उसी प्रकार अक्षरब्रह्म का जगतरूप है;(2) जिस प्रकार गंगा भोगमोक्ष देने में समर्थ है, उसी प्रकार अक्षरब्रह्म भी मुक्ति देता है;(3) और जिस प्रकार गंगा देवीरूपा है, उस प्रकार से कृष्ण को समझना चाहिए.........।

तत्राप्येतदिहोच्यते ।।९।।
जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः ।
देवतारूपवत्प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः ।।१०।।

गंगादृष्टान्त द्वारा ब्रह्म के तीन स्वरूप समझाने पर भी जगत के सन्दर्भ में इतनी बात और कहनी शेष रह जाती है कि,॥9॥
जगत को तीन प्रकार(सत्त्व-रज-तम)का कहा गया है और ब्रह्मा-विष्णु-शिव
जिस प्रकार जगत के नियामक तीन देवता हैं, ठीक इसी प्रकार अक्षरब्रह्म के नियामक हरि हैं- ऐसा श्रुति ने माना है ॥10॥

कामचारस्तु लोकेऽस्मिन्ब्रह्मादिभ्यो न चान्यथा ।
परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः ।।११।।
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम् ।

(देवताओं से सीमित लौकिकफल की प्राप्ति एवं अलौकिक परमानन्द की प्राप्ति श्रीकृष्ण से)

इस लोक में मनोवांछित कामनाओं की पूर्ति ब्रह्मा-विष्णु आदि देवताओं के द्वारा होती है, इनके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से नहीं॥

किन्तु भगवद्भक्तों के लिए तो उनके विषयक कामचार(मनोवांछित अर्थ की पूर्ति)उनके आत्मरूप परमानन्दरूप कृष्ण द्वारा ही सिद्ध होता है- यह निश्चय है॥11॥

अतः इस ब्रह्मवाद को समझते हुए ऐसे परमानन्दरूपकृष्ण में अपनी बुद्धि योजित करनी चाहिए।

(ब्रह्मवाद= कृष्ण ही सर्वरूप हैं। लोक के नियामक भी श्रीकृष्ण हैं एवं अक्षरब्रह्म के नियामक भी श्रीकृष्ण ही हैं। सभी कुछ ब्रह्म ही है। ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रयी है। अविकृतपरिणामवाद इत्यादि। भगवान हरि ही समस्त फलप्रदाता हैं। तनुवित्तजासेवा, मानसीसेवा इत्यादि सभी ब्रह्मवाद के सिद्धान्त हैं)।

आत्मनि ब्रह्मरूपे हि छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः ।।१२।।

(ऊपर मानसीसेवा की चर्चा करके उत्तमाधिकारियों के विषय में बताया गया और अब यहाँ से *मध्यमाधिकारी एवं जघन्याधिकारियों के विषय में बता रहे हैं*)

ब्रह्मरूप आत्मा में जीवरूप चेतनाएँ दिखाई पड़ना छलनी से आकाश को देखने पर आकाश में दिखाई देते अनेक छिद्रों की भाँति भ्रमात्मक है, क्योंकि आकाश में तो कोई भी छिद्र हैं ही नहीं अपितु दिखाई देने वाले छिद्र तो छलनीरूप उपाधि के कारण दिखाई देते हैं। जिस प्रकार आकाश अनेक छिद्रों में बँटा हुआ नहीं है तथापि छलनी से देखा जाय तो बँटा हुआ दिखाई देता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म यद्यपि इतने सारे जीवात्माओं के रूप में बँटा हुआ नहीं है तथापि बँटा हुआ दिखाई पड़ता है। तात्पर्य यह कि अविद्या से ग्रस्त जीव को स्वयं का एवं अन्यों के शुद्धस्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता। सिद्धान्त यह है कि जिस प्रकार छलनीरूप उपाधि को हटाकर देखने पर केवल एक ही आकाश दिखाई पड़ता है, ठीक उसी प्रकार मायारूप उपाधि के हट जाने पर केवल ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है, अन्य किसी की सत्ता नहीं रहती ॥12॥

उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने ।
गंगातीरस्थितो यद्वद्देवतां तत्र पश्यति ।।१३।।
तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन्ज्ञानी प्रपश्यति ।

जब उपाधि नष्ट हो जायेगी और विशिष्टज्ञान हो जायेगा और 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा अवबोध होगा, तब होगा यह कि,

जिस प्रकार देवीरूपा के दर्शन प्राप्त कर चुका भक्त **गंगातीर पर ही** देवीरूपा गंगा को देख लेता/सकता है, अर्थात् दर्शन हो जाने के पश्चात् अब उसके लिए गंगातीर-गंगाजल में अभेदबुद्धि हो जाती है;

ठीक उसी प्रकार उपर्युक्त प्रकार से अवबोध करने वाला ज्ञानी(उक्तप्रकारक ज्ञान पा लेने वाला)परब्रह्म-कृष्ण को **अपने आप में ही** देख लेता/सकता है।

संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा ।।१४।।
अपेक्षितजलादीनामभावात्तत्र दुःखभाक् ।

(भगवत्प्राप्ति *में कौन से जीव मध्यमाधिकारी एवं कनिष्ठाधिकारी हैं, यह आगे बता रहे हैं*)

जो सांसारिकसुख पाने के हेतु से भजन करता है, ऐसा संसारी भगवान को न पाने से दुःखी रहता है, स्वार्थवश भजन करने के कारण संसारी भगवान से विमुख हो जाता है, भगवान से दूर हो जाता है अतः भगवान से दूर हो चुके संसारी को भगवान प्राप्त नहीं होते, या भक्तिमार्गीयफल या एतन्मार्गीय अलौकिक अनुभूतियाँ नहीं होतीं, जिसको लेकर वह दुःखी रहता है।

ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार कि गंगा से दूर बैठे भक्त को गंगाजल, गंगातीर्थ इत्यादि प्राप्त न होने के कारण वह दुःखी होता रहता है। दुःखी इसलिए क्योंकि गंगा को पाने के लिए उसे गंगा से दूर नहीं होना चाहिए था; ठीक इसी प्रकार संसारी करता तो भजन ही है परन्तु उसकी विशेष आसक्ति संसार में होती है, प्रभु में नहीं। संसारासक्ति को पकड़े रखे रहने के कारण वह प्रभु से दूर होता है इसलिए उसे प्रभुसम्बन्धी अनुभव, अलौकिक अनुभव इत्यादि नहीं होते और इस कारण वह दुःखी होता रहता है- यह अर्थ है।

तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः ।।१५।।
आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत् ।

(*उत्तमाधिकारी कौन हैं, यह बता रहे हैं*)

इसलिए श्रीकृष्ण के मार्ग पर चलने वाले को समस्त लौकिक से विमुक्त होकर आत्मानन्दसमुद्र में स्थित श्रीकृष्ण का ही विशेषरूप से चिन्तन करना चाहिए ॥15॥

लोकार्थी चेद्भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ।।१६।।
क्लिष्टोऽपि चेद्भजेत्कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा ।

(हीनाधिकारी, जो लौकिककामनाओं की पूर्ति होने की अभिलाषा रखता हो तथापि भगवत्सेवा करने का भी आग्रही हो, ऐसे जीव क़ो क्या फल प्राप्त होगा, यह बता रहे रहे हैं)

लोकार्थी यदि कृष्णभजन करता है, तो वह लोक में सर्वथा क्लेश ही पाता है,॥16॥

परन्तु, यदि क्लेशयुक्त होने पर भी वह कृष्णभजन करता रहे, भजन करना न छोड़े, तो कालांतर में उसका लोक सर्वथा नष्ट हो जाता है अर्थात् उसका लौकिक छूट जाता है।

ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु ।।१७।।
मर्यादास्थस्तु गंगायां श्रीभागवततत्पर: ।

(उक्तप्रकारक ब्रह्मज्ञान होने तक अपनी चित्तचन्चलता को दूर करने के लिए पुष्टिमार्गीय एवं मर्यादामार्गीय का क्या कर्तव्य है)

किन्तु जब तक ऊपर कहे अनुसार ब्रह्मस्वरूप एवं अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता(12 1/2वीं कारिका में कहे अनुसार), तब तक पुष्टिमार्गीय को भगवान के पूजा-उत्सव आदि में संलग्न होकर रहना चाहिए ॥17॥

जबकि मर्यादाभक्तिमार्गीय को श्रीभागवततत्पर रहते हुए गंगा के निकट वास करना चाहिए।

अनुग्रह: पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थिति: ।।१८।।
उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति ।
ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपित: ।।१९।।

पुष्टिमार्ग में भगवान का अनुग्रह ही नियामक है- यह स्थिति है ॥18॥

और यदि भगवान का अनुग्रह हो तो पुष्टिमार्गीय एवं मर्यादाभक्तिमार्गीय दोनों को ही पूर्व में बतायी मानसीसेवा क्रमशः फलित होती है।

ज्ञानमार्ग से अधिक बड़ा भक्तिमार्ग है इसलिए हमने इस बात को गंगादृष्टान्त द्वारा निरूपित किया है ॥19॥

भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टै: स्वकर्मभि: ।
अन्यथाभावमापन्नस्तस्मात्स्थानाच्च नश्यति ।।२०।।

किन्तु यदि भक्ति नहीं है, तो जिस प्रकार गंगातीर पर गंगा के सन्मुख रहते हुए भी व्यक्ति अपने दुष्टकर्मों द्वारा पाखंडी होकर अन्यथाभाव को प्राप्त हो जाता है और अपने स्थान से भी गिर जाता है, वैसे ही वह भी भक्ति से प्राप्त होने वाले फलों से वंचित रहता है, उसे प्रतिबन्ध आते रहते हैं आदि। ॥20॥

एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम् ।
एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुष: सर्वसंशयात् ।।२१।।
इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली समाप्ता ।

इस प्रकार से हमने अपने शास्त्र का सभी गोपनीयतत्त्व निरूपित कर दिया है,
जिसे जानकर व्यक्ति सर्वसंशयों से पूर्णरूपेण मुक्त हो जाता है ॥21॥

॥ यह श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचित सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्ण हुई ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

सिद्धान्तमुक्तावली ।

श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितविवृतिसमेता ।

* * *

प्रणम्य पितृपादाब्जपरागमनुरागतः ।
कृपया विशदीकुर्मस्तद्वाङ्मुक्ताफलावलीम् ।।१।।

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्[1] ।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ।।१।।

स्वसिद्धान्तेति । अग्रे वक्ष्यमाणैर्बहुभिर्मिथो विरुद्धैः सिद्धान्तैः शास्त्रार्थसन्देहे तन्निरासाय स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थनिश्चयं वक्ष्यामीत्यर्थः । तमेवाहुः **कृष्णसेवेति** । फलात्मकनामोक्त्या स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो, न त्वन्यशेषत्वेनेति ज्ञाप्यते । सेवा हि सेवकधर्मः । तदुक्त्या जीवानामशेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम् । अत एव न कर्मणीवात्र [2]कालपरिच्छेदोस्तीत्याहुः **सदेति** । आवश्यकार्थण्यत्प्रत्ययान्तकार्यपदोक्त्या तदकरणे प्रत्यवायी भवतीति भावो ज्ञाप्यते ।

पितृचरणकमलपराग को अनुरागपूर्वक प्रणाम करके
उनकी कृपा से उनके वाणीरूप मोतियों की श्रंखला का विस्तार कर रहे हैं।

स्वसिद्धान्त का अर्थ है- आगे की कारिकाओं में(4थी कारिका में)कहे गए एक दूसरे से विरुद्ध जाने वाले अनेक सिद्धान्तों द्वारा शास्त्र का वास्तविक अर्थ जानने में सन्देह होता है, अतः उस सन्देह का निराकरण करने के लिए पितृचरण अपने सिद्धान्तरूप शास्त्र के अर्थ का निश्चय कह रहे हैं। अपने उसी सिद्धान्त को पितृचरणों ने 'कृष्णसेवा' शब्द के द्वारा कहा है। पितृचरण 'कृष्णसेवा' कहने के स्थान पर 'भगवत्सेवा' भी कह सकते थे परन्तु आपश्री ने 'कृष्ण' यों फलात्मक नाम कहा है, जिसके द्वारा यह बोधित होता है कि, फलात्मककृष्ण की सेवा स्वतःपुरुषार्थरूपा समझकर करनी है, साधन समझकर नहीं- यही अपने मार्ग का सिद्धान्त है। कृष्णसेवा को स्वतःपुरुषार्थरूपा कहा होने का तात्पर्य यह कि कृष्णसेवा अपने आप में ही फलरूपा है, इसके द्वारा कुछ अन्य प्राप्त करना नहीं होता। सेवा करनी सेवक का धर्म है, और पितृचरण कृष्णसेवा करने की आज्ञा कर रहे हैं, तो इससे आपश्री ने यह बताया है कि समस्त जीव भगवानश्रीकृष्ण के सहजरूप से दास हैं। इसी कारण आपश्री ने यहाँ **सदा** पद का प्रयोग करके इस बात का सूचन किया है कि, कृष्णसेवा करने में कर्ममार्ग की भाँति काल की कोई मर्यादित अवधि नहीं है कि अमुक सीमित कालपर्यन्त ही सेवा की जाय। **कार्या** पद में आवश्यक-अर्थ को बताने वाले ण्यत्-प्रत्यय का प्रयोग है, जिससे आपश्री ने यह भाव बोधित कराया है कि, सहजदास होने के कारण कृष्णसेवा करनी आवश्यक है, तथापि यदि नहीं करेंगे, तो दोष लगेगा।

सा च फलरूपा साधनरूपा चास्ते । तत्र मानसी सा परा फलरूपेत्यर्थः । यथा व्रजसीमन्तिनीनाम् । तदेव तत्प्राणनाथेन गीतं 'ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेद'मित्यादिना ।।१।।

कृष्णसेवा 'फलरूपा' और 'साधनरूपा' यों दो प्रकार की है। इसमें **सा परा** यानि मानसीसेवा फलरूपा है- यह अर्थ है। **मानसीसेवा** का अर्थ है- वह सेवा जो व्रजगोपिकाओं ने की थी। उसी मानसीसेवा के विषय में बताते हुए व्रजगोपिकाओं के प्राणनाथ श्रीकृष्ण ने *"हे उद्धव ! जिस प्रकार बड़े-बड़े ऋषि-मुनि समाधि में तल्लीन हो जाते हैं और जैसे बड़ी-बड़ी नदियाँ समुद्र में मिलकर अपना नामरूप खो देती हैं, वैसे ही गोपियाँ मुझमें इतनी तन्मय हो गयीं थीं कि उन्हें लोक-परलोक, शरीर, और अपने कहलाने वाले पति-पुत्रादि की भी सुध-बुध नहीं रह गयी थी(श्री0भा-11/12/12)"* इत्यादि वाक्यों द्वारा कहा भी है ॥1॥

---

[1] विनिश्चितमिति पाठः । [2] काले इति पाठः ।

एतदेव सेवास्वरूपमित्याहुः चेत इति ।

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा ।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् ।।२।।

उक्तसेवासाधने इतरे इत्याहुस्तदिति । वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारितैका । एतादृशेन पुंसा कृता चापरा । एतादृश्यौ ते तत्साधिके नेत्यभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम् । एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवतीति भावः । एतादृशस्यावान्तरफलं भवतीत्याहुः तत इति ।

व्रजगोपिकाओं ने जिस प्रकार से कृष्णसेवा की और जिसे भगवान ने उक्तश्लोक में बताया है, वही एतन्मार्गीय सेवा का स्वरूप है- यह बात बताने के लिए पितृचरणों ने **चेतः** इत्यादि शब्दों से अग्रिमपंक्तियाँ लिखी हैं।

उक्त मानसीसेवा सिद्ध करने के दो साधन हैं, जिसे आपश्री ने **तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा** इत्यादि शब्दों से कहा है। (1)धन देकर किसी अन्य पुरुष द्वारा करवायी जाने वाली कृष्णसेवा एक प्रकार की, और (2)उक्तप्रकारक धन लेकर सेवा करने वाले ने जो कृष्णसेवा की, यों दूसरे प्रकार की सेवा; ये दोनों प्रकार की सेवाएँ मानसीसेवा को सिद्ध नहीं कर सकतीं- आचार्यचरणों के इस अभिप्राय को बताने वाला **तनुवित्तजा** यह समस्त पद है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि, भगवान के लिए निस्वार्थरूप से अपना सर्वस्व निवेदन करके और अपनी देह का भी भगवान में ही विनियोग करने पर हृदय में भगवत्प्रेम जाग्रत होता है और तब मानसीसेवा सिद्ध होती है- यह भाव है। जिसको उपर्युक्त प्रकार से मानसीसेवा सिद्ध होनी होती है, उसको तनुवित्तजासेवान्तर्गत कुछ अवान्तरफल भी प्राप्त होते हैं, जिसे पितृचरणों ने **ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्** इत्यादि शब्दों से कहा है।

अहन्ताममतात्मकः संसारो, न तु प्रपञ्चात्मकः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्, तन्निवृत्त्याऽनिष्टनिवृत्तिरुक्ता । इष्टप्राप्तिमाहुरग्रे । स्वात्मनि प्रपञ्चे चाक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानम् । भगवत्सेवायामभिनिविष्टस्य यद्यप्यनभिलषिते ते, तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत इति भावः ।।२।।

यहाँ **संसार** शब्द का अर्थ अहन्ताममता है, संसार का अर्थ प्रपञ्च नहीं है क्योंकि प्रपञ्च तो अक्षरब्रह्मात्मक है; इसलिए हमें प्रपञ्च/अक्षरब्रह्म की निवृत्ति होनी अपेक्षित नहीं है अपितु मानसीसेवा सिद्ध हो जाने पर अहन्ताममतात्मक संसार की निवृत्ति होगी, जिसके द्वारा आपश्री ने प्रभुसेवा में प्रतिबन्धक बनने वाले अनिष्ट की निवृत्ति हो जानी कही है। यह एक अवान्तरफल प्राप्त हुआ अब पितृचरण तनुवित्तजासेवा द्वारा दूसरा इष्टप्राप्तिरूप फल प्राप्त होना आगे **ब्रह्मबोधनम्** शब्द से कह रहे हैं। ब्रह्मबोधन हो जाने का अर्थ है- अपनी आत्मा को एवं इस प्रपञ्च को अक्षरब्रह्मात्मकरूप से जान लेना। यद्यपि भगवत्सेवा में अभिनिविष्टचित्त वाले जीवों को उक्त दोनों अवान्तरफलों की अभिलाषा नहीं होती, परन्तु तनुवित्तजा सेवा करते करते अपने आप ही उक्त दोनों फल प्राप्त हो जाते हैं- यह भाव है ॥2॥

इदमेव परं ब्रह्मेति न ज्ञेयमित्याहुः परं ब्रह्म त्विति ।

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ।
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम् ।।३।।

यशोदोत्सङ्गलालितो, न त्वन्य इति ज्ञापनाय मूलनामोक्तम् । अत्र भेदकं रूपमाहुः सच्चिदिति । एते हि भगवद्धर्मात्मकाः, प्रकटतत्रितयात्मकमक्षरं ब्रह्म । अत एव प्रपञ्चस्तदात्मक इति सच्चिदानन्दात्मकत्वं तस्मिन्नुच्यते । एतावान्परं विशेषो, जडे सदंशः प्रकटः, इतरावाच्छन्नौ; जीवे त्वाद्यौ प्रकटौ, आनन्दांशस्तिरोहितः, परमात्मनि त्रयं स्फुटमिति । कप्रत्ययेन गणितानन्दत्वमेव, न तु पुरुषोत्तमवत् पूर्णानन्दत्वमिति ज्ञाप्यते ।

परन्तु ऊपर दूसरी कारिका में कहे 'ब्रह्म' पद से भ्रमित होकर कोई उसे ही परब्रह्म न समझ बैठे, अतः पितृचरणों ने अग्रिमश्लोक में **परं ब्रह्म तु कृष्णो हि** यह कहकर श्रीकृष्ण को परब्रह्म कहा है।

तात्पर्य यह कि, यशोदोत्संगलालितश्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, अन्य कोई नहीं- यह बताने के लिए आपश्री ने परब्रह्म के साथ मूलनाम 'कृष्ण' जोड़कर कहा है। अब ऊपर प्रथमश्लोक में कहे अक्षरब्रह्म एवं परब्रह्म-श्रीकृष्ण में अंतर/भेद बताने वाले अक्षरब्रह्म के रूप को आपश्री **सच्चिदानन्दकं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि अक्षरब्रह्म सच्चिदानन्दात्मक है, यानि अक्षरब्रह्म में सत्+चित्+आनन्द तीनों धर्म हैं। ये तीनों भगवद्धर्मात्मक हैं(अर्थात् भगवान के धर्म हैं)और जिसमें ये

तीनों धर्म प्रकट हैं उसे 'अक्षरब्रह्म' कहा जाता है। इसीलिए अक्षरब्रह्म से उत्पन्न हुआ होने के कारण प्रपञ्च भी अक्षरब्रह्मात्मक है और इसीलिए उसे सच्चिदानन्दात्मक माना जाता है। किन्तु विशेषरूप से इतनी बात और है कि, प्रपञ्च और अक्षरब्रह्म में इतना भेद/अंतर है कि प्रपञ्चान्तर्गत जड़ में केवल सत्-अंश प्रकट है और शेष 'चित्' और 'आनन्द' अप्रकट हैं, और जीव में 'सत्' और 'चित्' प्रकट हैं किन्तु 'आनन्दांश' तिरोहित है, जबकि परमात्मा(अन्तर्यामि)में तीनों धर्म प्रकट हैं। पितृचरणों ने अक्षरब्रह्म को **सच्चिदानन्दकं** कहकर 'क' प्रत्यय का प्रयोग किया है, जिससे ज्ञात होता है कि, अक्षरब्रह्म गणितानन्द ही है, पुरुषोत्तम की भाँति पूर्णानन्द नहीं- यह बताना चाह रहे हैं।

कृष्णशब्देनैव पुरुषोत्तमस्वरूपं निरूपितमित्यक्षरस्वरूपं निरूपयन्ति द्विरूपमिति । तत् अक्षरं ब्रह्म । तदेव रूपद्वयं विशदयन्ति सर्वं स्यादिति । प्रपञ्चरूपेणाविर्भूतमेकमित्यर्थः । एकं रूपं तस्मात् प्रपञ्चरूपात् एकरूपत्वेन श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेन ज्ञान्युपास्यत्वेन तन्मुक्तिस्थानत्वेन पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वादिभिर्विलक्षणमित्यर्थः ।

पुरुषोत्तम का स्वरूप तो खैर 'कृष्ण' कह देने से ही निरूपित हो गया अतः अब पितृचरण अक्षरब्रह्म का स्वरूप **द्विरूपं** इत्यादि शब्दों से निरूपित कर रहे हैं। इसके आगे **तत्** शब्द का अर्थ है- अक्षरब्रह्म; अर्थात् अक्षरब्रह्म के ही दो रूपों को आपश्री ने **सर्वं स्यात्** इत्यादि शब्दों से कहा है। इससे आपश्री यह बताना चाह रहे हैं कि, अक्षरब्रह्म दो प्रकार का है; इस प्रपञ्च के रूप में आविर्भूत हुआ अक्षरब्रह्म का एक रूप है और एक रूप इस प्रपञ्च से विलक्षण(अलग)है; यानि विलक्षण यों कि (क)एक रूप होने के कारण है(यानि जगत से भिन्न वाला अक्षरब्रह्म का स्वरूप जगत की भाँति अनेक रूपों वाला नहीं अपितु एक ही रूप वाला है), (ख)श्रुति द्वारा प्रतिपादित होने के कारण ज्ञानियों का उपास्य होने के कारण है, (ग)उनकी मुक्ति का स्थान है और (घ)पुरुषोत्तम का अधिष्ठान है(पुरुषोत्तम के बिराजने का स्थान है)- इन सभी कारणों से प्रपञ्च से विलक्षण है। मूल टीका में आए **एकरूपत्वेन** का अर्थ है- प्रपञ्चरूप/जगतरूप से आविर्भूत हुआ अक्षरब्रह्म तो अनेक रूपों वाला है परन्तु इससे विलक्षण रूप वाला जो अक्षरब्रह्म है, उसका एक ही रूप है, यानि जगत की भाँति उसके विभिन्न रूप नहीं हैं।

न च विरुद्धधर्मैर्भेदोत्र शंकनीयः । उभयोर्धर्मयोरेकत्र प्रमाणसिद्धत्वेन विरोधाभावात् । विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य ब्रह्मणि 'तदेजति तन्नैजती'त्यादिश्रुतिभिर्निरूप्यमाणत्वात् । लोक एव विरोधः शंकनीयो, नत्वलौकिके ब्रह्मणि । इदं यथा तथा ब्रह्मसूत्रभाष्ये निरूपितमिति नात्र प्रपञ्च्यते ।।३।।

अब, अक्षरब्रह्म के ऊपर कहे अनुसार दो स्वरूपों में परस्पर विरुद्धधर्म दिखाई देते होने के कारण अक्षरब्रह्म के स्वरूप में भेद नहीं समझ लेना चाहिए; यानि अक्षरब्रह्म दो रूपों में बँट कर दो अलग-अलग स्वरूप वाला है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए अपितु **एक ही अक्षरब्रह्म दो स्वरूपों में बँट जाता है**, यह जानना चाहिए; क्योंकि इन दोनों विरुद्धधर्मों का एक अक्षरब्रह्म में ही होना श्रुतिप्रमाणसिद्ध है, अतः इसमें कोई विरोध नहीं है। क्योंकि ब्रह्म में विरुद्धधर्म होने वाली बात तो "*परमेश्वर चलते हैं, नहीं भी चलते। वह दूर भी हैं और समीप भी। एक ही काल में परस्पर विरोधी भाव, गुण, तथा क्रिया जिनमें रह सकती है, उन्हें ही परमेश्वर कहा जाता है(ईशा-5)*" इत्यादि श्रुतियों द्वारा भी निरूपित की जा चुकी है। हाँ, यदि लोक में किसी में विरुद्धधर्म होने दिखाई देते हों, तब तो अवश्य शंका हो सकती है, परन्तु अलौकिकसम्बन्धी पदार्थों के लिए या अलौकिकब्रह्म के लिए ऐसी शंका नहीं की जा सकती। इस मुद्दे को पितृचरणों ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में चूँकि स्पष्ट कर दिया है अतः यहाँ हम इनका विस्तार नहीं कर रहे हैं ॥3॥

विरोधपरिहाराय स्वसिद्धान्तं वक्तुं परमतान्याहुः अपरमिति ।

अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः ।
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा ।।४।।

वेदमतादपरं भिन्नं मतं पूर्वस्मिन् प्रपञ्चरूपेणाविर्भूते । तत्र अक्षरे ब्रह्मणीत्यर्थः । मायिकमिति हि मायावादिनः । **सगुणं गुणकार्यमिति साङ्ख्याः । कार्यं द्व्यणुकादिक्रमेणेश्वरकार्यमिति नैयायिकाः । स्वतन्त्रं** न कदाचिदनीदृशं **जगदिति मीमांसकाः । चकारेण वेदबाह्यमतानि संगृह्यन्ते ।।४।।**

अब प्रपञ्च/जगत की उत्पत्ति किस प्रकार से हुई है, इस संदर्भ में जो विभिन्न शास्त्रमत हैं, उन शास्त्रमतों में आनेवाले परस्पर विरोध का परिहार करने के लिए पितृचरण अपना सिद्धान्त बताने के उद्देश्य से सर्वप्रथम दूसरों के मतों के विषय

में **अपरं**(वेदमत से भिन्न जाने वाले मत)इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। प्रपञ्च/जगत के आविर्भूत होने के संदर्भ में वेदमत से भिन्न जाने वाले मतों को आपश्री ने **अपरं**(दूसरे मत)शब्द से कहा है। **तत्र** का अर्थ है- अक्षरब्रह्म के दो स्वरूपों में से पहले वाले स्वरूप प्रपञ्च/जगत के संदर्भ में मायावादी कहते हैं कि- यह जगत मायिक है। सांख्य कहते हैं- गुणों के मिलने से बना है। नैयायिक कहते हैं- द्वयणुकादि को जोड़कर ईश्वर क्रमशः जगत का निर्माणकार्य करता है। मीमांसक कहते हैं- इस जगत का कोई भी कर्त्ता नहीं है; उनका कथन यह है कि- ऐसा नहीं कहा सकता कि ये जगत पहले ऐसा नहीं था अपितु पहले से ऐसा ही है और आगे भी ऐसा ही रहेगा। इसके अतिरिक्त **च** शब्द से आपश्री ने अन्य दूसरे वेदबाह्य(वेद के मत को न मानने वाले)मतों का भी सूचन कर दिया है ॥4॥

तानि मतानि श्रुतिबलेनैव निराकृतानि सन्तीति नात्र पार्थक्येन निराकरणीयानि, स्वमतनिरूपणेनैव निराकरणसम्भवादित्याशयेन स्वसिद्धान्तमाहुः तदेवेति ।

तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम् ।
द्विरूपं चापि गङ्गावज्ज्ञेयं सा जलरूपिणी ॥५॥
माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा ।
मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम् ।

'स हैतावानास', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जला'नित्यादिश्रुतिभ्यः तथेत्यर्थः । एकस्यैवाक्षरस्योक्तं द्विरूपत्वं दृष्टान्तेनोपपादयन्ति द्विरूपमिति । प्रपञ्चतद्भिन्नरूपाभ्यां द्विरूपं तद्ब्रह्म गङ्गावज्ज्ञेयम् । अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वम् । आधिभौतिकं जलरूपमेकम्, यद्वृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धिह्रासौ भजते, सर्वव्यवहारयोग्यं च । अग्रिमा द्वितीयाध्यात्मिकी तीर्थरूपा, योद्धृतजलाविशेषेऽपि मर्यादामार्गसम्बन्धी यो विधिस्तेन तत्रैव स्नानपूजादिभिः फलदा । एवमेव प्रपञ्चतद्भिन्नरूपमप्येकमेव तदक्षरं ब्रह्मेति बुध्यतामित्यर्थः ॥५॥६॥

अब चूँकि इन सभी मतों का निराकरण तो श्रुतिवाक्यों के बल से ही सिद्ध हो जाता है अतः आपश्री को एक-एक करके इनका निराकरण करने की आवश्यकता नहीं लगी; साथ ही साथ आपश्री के अपने मत का निरूपण करने से ही अन्यों के मतों का भी निराकरण हो जायेगा- इस आशय से पितृचरणों ने अपने सिद्धान्त का निरूपण **तदैव** इत्यादि शब्दों से किया है।

प्रथमपंक्ति में आपश्री अपने सिद्धान्त का निरूपण करते हुए यह आज्ञा कर रहे हैं कि- *"स हैतावानास(बृहदा-1/4/3)","सर्वं खल्विदं(छान्दो-3/14/1)"* इत्यादि श्रुतियों के अनुसार अक्षरब्रह्म ही प्रपञ्च के रूप में आविर्भूत होता है। एक ही अक्षरब्रह्म के इस प्रकार से दो रूपों में परिणित हो जाने वाली बात को पितृचरणों ने गंगा का दृष्टान्त देते हुए **द्विरूपं** इत्यादि शब्दों से समझाया है। इस कारिका का तात्पर्य यह है कि, प्रपञ्च एवं प्रपञ्च से भिन्न ऐसे दो रूपों वाले अक्षरब्रह्म को गंगा की भाँति समझना चाहिए। गंगा के तीन रूप हैं। एक तो जल के रूप में आधिभौतिकरूप, जो वर्षा-धूप से घटता-बढ़ता रहता है एवं सभी के व्यवहारोपयोगी होता है अर्थात् उस जल से कोई स्नान करता है, कोई पान करता है, कोई पूजन करता है, कोई सिंचाई करता है इत्यादि दैनिक व्यवहार में आता है। दूसरा तीर्थरूप है, जो कि गंगा का आध्यात्मिकस्वरूप है, यानि कि वो तीर्थरूपा गंगा जिसका जल यद्यपि लोटे में भरकर घर ले आए गंगाजल के समान ही होता है, तथापि मर्यादामार्गीयविधि द्वारा वहीं, यानि कि गंगातीर्थ पर ही स्नानपूजा आदि करने पर फलदायी बनता है, लोटे में भरकर घर ले आने पर नहीं, वह तीर्थरूपा गंगा का आध्यात्मिकस्वरूप है। ठीक इसी प्रकार प्रपञ्चरूप एवं उससे भिन्नरूप, ये दोनों एक ही हैं अर्थात् अक्षरब्रह्म ही हैं- यह समझ लीजिए ॥5॥6॥

आधिदैविकं रूपमाहुः तत्रैवेति ।

तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित् ।
गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्धये ॥७॥
प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात्तया जले ।
विहिताच्च फलात्तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते ॥८॥
यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत् ।
यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते ॥९॥

जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः ।
देवतारूपवत्प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः ।।१०।।
कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चाऽन्यथा ।
परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः ।।११।।
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम् ।

उक्तद्विरूपायां गङ्गायामेव देवतारूपा सा तद्भिन्नास्तीत्यर्थः । तत्र मानमाहुः मूर्तिरिति । भक्त्यैव, न तु मर्यादामार्गविधिनोपासनयेत्यर्थः । तदपि क्वचिदेव, भक्त्युद्रेकदशायामेव ।

गंगा के उक्त दो रूपों को बताकर अब गंगा का तीसरा आधिदैविकस्वरूप आपश्री ने **तत्रैव** इत्यादि शब्दों से कहा है। इससे आपश्री का तात्पर्य यह कि ऊपर कही दो रूपों वाली गंगा में ही गंगा का एक देवतारूप भी है, जो उक्त दोनों रूपों से भिन्न है। इसका प्रमाण आपश्री ने **मूर्तिः** इत्यादि शब्दों से दिया है। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, देवीरूपा गंगा के दर्शन तो भक्ति द्वारा ही किए जा सकते हैं, मर्यादामार्गीयविधि से की जाने वाली उपासना द्वारा नहीं। वह भी **क्वचित् एव हि** अर्थात् कभी ही, यानि भक्ति की उमड़ती हुई दशा में ही दर्शन होने संभव होते हैं।

अथवा । यत्र क्वचिद् गृहादिष्वपीत्यर्थः । भक्तविशेषे विशेषमाहुः गङ्गायामिति । देवतारूपायां गङ्गायां भक्त्युद्रेकेण दृश्यमानप्रवाहादभिन्नत्वेन यस्य बुद्धिस्तस्मै गङ्गायां प्रवाहमध्य एव (देवतारूपा गङ्गा) प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः । एतेन प्रपञ्चमध्य एव भगवदाकारभगवद्भक्तयोर्दर्शने भगवति स्नेहातिशयेन तत्र भगवदभेदबुद्धये तत्र भगवत्प्राकट्यं भवतीति भावः सूच्यते ।

अथवा, यदि हृदय में विशेषभक्ति हो, तो कहीं घर आदि स्थलों पर भी जहाँ जिस जगह वह ध्यान करे, वहाँ मूर्तिरूपा गंगा के दर्शन उसे हो सकते हैं- यह अर्थ है। परन्तु किसी विशेषभक्त को तो गंगा के दर्शन गंगाप्रवाह में ही हो जाते हैं- यह बात आपश्री ने **गंगायाम्** इत्यादि शब्दों से कही है। इसका अर्थ यह है कि, भक्ति के उद्रेक के कारण जिसमें दृश्यमान गंगाजलप्रवाह को मूर्तिमयी गंगा से अभिन्न मानने की बुद्धि जाग्रत हो जाती है, ऐसे भक्त को तो गंगाप्रवाह में ही देवीरूपा गंगा प्रत्यक्ष दिखाई देती है- यह अर्थ है। इस उदाहरण के द्वारा पितृचरण यह भाव सूचित कराना चाह रहे हैं कि, ठीक इसी प्रकार जब जीव को इस प्रपञ्च के अंतर्गत ही भगवत्स्वरूप में या भगवद्भक्त में भगवान से अतिशयस्नेह होने के कारण उन्हें भगवान से अभिन्न मानने की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, तब इसी प्रपञ्च में उसके लिए भगवान का प्राकट्य हो जाता है, यानि भगवत्स्वरूप या भगवद्भक्त किसी को भी वह भगवान से अलग नहीं समझता अपितु सभी को भगवत्स्वरूप ही समझने लगता है। तात्पर्य यह कि सामान्यभक्त को तो दर्शन तब होंगे जब कभी उसकी भक्ति उच्च स्तर पर पहुँचेगी, या वहाँ होगी अथवा जहाँ उसका ध्यान पूर्णरूपेण लग जायेगा। परन्तु विशिष्टभक्त को तो सीधे गंगाप्रवाह में ही देवीरूपा गंगा के दर्शन हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार सामान्यभक्त को तो भगवत्स्वरूप या भगवद्भक्त में भगवान के दर्शन तब होते हैं, जब वह भगवन्मूर्ति में भगवान की भावना करता है या तब ही होते हैं जब उसकी भक्ति उद्रेकदशा में पहुँचती है, तथापि, उसे केवल भगवन्मूर्ति में ही भगवान के दर्शन होंगे। परन्तु विशिष्टभक्त को जड़-चेतन सभी पदार्थों में भगवान के दर्शन होते हैं। सामान्यभक्त को विशेष परिस्थिति में दर्शन होंगे, जबकि विशेषभक्त को सामान्य परिस्थिति में भी दर्शन हो जाते हैं-यह फलितार्थ है।

अग्रिमव्यवस्थामाहुः प्राकाम्यमिति । स्वाभीष्टस्वसर्वस्वरूपायाः स्थानभूतत्वेन ज्ञानात्तज्जले सर्वत्रानिषिद्धयथेष्टव्यवहारः स्यादित्यर्थः । एवमेवोक्तप्रकारकभगवद्दर्शने सर्वत्र तद्भावः स्फुरतीति भावः ।

अब ऐसे विशेषभक्त की अग्रिमव्यवस्था आपश्री **प्राकाम्यं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं(अर्थात् जिस भक्त को गंगा का साक्षात्कार हो चुका है, वह गंगाजल के प्रति किस प्रकार का व्यवहार करने लगता है-यह बता रहे हैं)। इस कारिका का तात्पर्य यह है कि जिसे गंगा का साक्षात्कार हो जाता है, वह गंगा के जल को भी अपनी अभीष्ट एवं सर्वस्वरूपा गंगा के बिराजने का स्थान जानते हुए गंगाजल के प्रति भी अनिषिद्धव्यवहार(वस्त्र न धोना, प्रक्षालन न करना आदि)एवं यथेष्टव्यवहार(अर्थात् भक्तोचित व्यवहार। अर्थात् स्नान-पान-पूजा-अर्चन- इत्यादि पूज्यव्यवहार। इसका तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार से भगवत्स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भगवत्स्वरूपसम्बन्धी जल, माला, वस्त्र इत्यादि को भी भगवद्रूप

समझते हुए अलौकिकव्यवहार होने लगता है, उस प्रकार से गंगाजल के प्रति अलौकिकव्यवहार होने लगता है)करने लगता है; अर्थात् सामान्यभक्त तो भेदबुद्धि रखता हुआ ये जानेगा कि जल गंगा का आधिभौतिकस्वरूप है, तीर्थ उसका आध्यात्मिकस्वरूप है एवं देवीरूप उसका आधिदैविकस्वरूप है, परन्तु जिसे गंगा का साक्षात्कार हो चुका है, वह तो गंगा के जल को गंगा से तनिक भी भिन्न न मानते हुए वही व्यवहार जल के साथ भी करने लगता है जिस प्रकार का व्यवहार देवीगंगा के साथ करना चाहिए। फलितार्थ यह कि जल को वह मात्र भौतिक नहीं समझता अपितु स्वरूपात्मक ही समझने लगता है- यह कहना चाह रहे हैं; ठीक इसी प्रकार ऊपर कहे अनुसार जब जीव को साक्षात् भगवद्दर्शन हो जाता है, उसके पश्चात् उसे सर्वत्र जगत में भगवद्भाव ही स्फुरित होने लगता है- यह भाव है। अर्थात् फिर उसे भगवन्मूर्ति के प्रति ऐसा भाव नहीं रह जाता कि ये तो मात्र मूर्ति है अपितु ऐसा भाव स्फुरित होने लगता है कि, यही भगवत्स्वरूप है। सामान्यभक्त को तो प्रपञ्च के प्रति केवल भगवद्भाव होता है, जबकि उक्तप्रकारक भक्त को तो समस्त प्रपञ्च भगवत्स्वरूप ही दिखाई देता है- यह अर्थ है।

विहितेति । भक्त्या गङ्गादर्शनानन्तरं प्रवाहरूपाया अपि दर्शनं विहितात्स्वर्गापवर्गरूपात्फलाद्विशिष्यते । तद्धृदीत्यर्थः ।
अब **विहित** इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, भक्ति द्वारा मूर्तिमयी गंगा के दर्शन हो जाने के अनन्तर उस भक्त के लिए गंगा के प्रवाहरूप जल का दर्शन भी उसके हृदय में गंगा द्वारा प्राप्त होने वाले स्वर्ग, मोक्षरूपी विहितफल की तुलना में भी विशेष मायने रखता है।

यद्वा । येषां न प्रत्यक्षा, तेषामपि तया[1] देवतारूपया सा तत्रास्तीति तत्सम्बन्धानुभावेनैव तज्जले प्राकाम्यं प्रकृष्टकामविषयत्वं श्रद्धाविशेषपूर्वकस्नानादिव्यवहारो भवतीत्यर्थः । किञ्च । पुराणादिषु तज्जलदर्शनादिभिः फलं यदुक्तं तदनुभवेन महतामन्तःकरणप्रतीत्यापि तज्जलमन्येभ्यो जलेभ्यो विशिष्यत इत्यर्थः । एवं येषां हृदि भगवत्सान्निध्यं ते भक्ता अन्येभ्यो विशिष्यन्ते । अत एव 'मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन'मिति भगवतोक्तम् ।
अथवा, जिनको गंगा के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुए हैं परन्तु हृदय में भक्ति है, उन्हें कम से कम इतना तो भान होता है कि, गंगा देवीरूप से इसी जल में विद्यमान है अतः गंगाजल को गंगा से सम्बन्धित समझते हुए उनका जल के प्रति **प्राकाम्यं** सिद्ध हो जाता है('प्रकृष्ट काम' का अर्थ है- उत्तम कर्म, श्रेष्ठ कर्म। उत्तम या श्रेष्ठ कर्म से तात्पर्य है विधिरूप से शास्त्रों में बताए गए कर्म, जिन्हें श्रीप्रभुचरण आगे बता रहे हैं)अर्थात् वे विशेष श्रद्धा रखते हुए स्नान आदि व्यवहार करने लगते हैं- यह अर्थ है। उसके श्रद्धापूर्वक व्यवहार करने का दूसरा कारण यह भी है कि, चूँकि पुराण आदि में गंगाजल का दर्शन आदि होने पर जो फल प्राप्त होना बताया गया है, उस फल का अनुभव उसने स्वयं भी किया होता है एवं महात्माओं के अन्तःकरण में भी उसकी प्रतीति हुई है अतः इन सभी के आधार पर गंगाजल उसके लिए भी अन्य जलों से विशिष्ट बन जाता है- यह अर्थ है; ठीक इसी प्रकार जिन्हें अभी भगवान के दर्शन तो नहीं हुए होते हैं परन्तु शास्त्रों के द्वारा भगवत्स्वरूप या भगवद्भक्तों के स्वरूप का ज्ञान हुआ है, ऐसे लोगों के लिए वे भक्त अन्य सांसारिकजीवों की तुलना में विशिष्ट बन जाते हैं जिन भक्तों के हृदय में भगवत्सान्निध्य होता है अर्थात् वो भगवत्सान्निध्य वाले भक्तों के प्रति लौकिकदृष्टि नहीं रखते अपितु उन्हें भगवत्स्वरूपात्मक ही मानने लगते हैं। इसी कारण भगवान ने भी श्रीमद्भागवत में *"मेरे चिन्हों अथवा मेरे भक्तजनों का दर्शन, स्पर्श एवं अर्चन करने से भक्ति उत्पन्न होती है(श्री0भा-11/11/34)"* यह बात कही है।

[2]**एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं निरूप्य उक्तमर्थं स्पष्टयन्ति यथा जलमित्यादिना । तत्रापीति । साधर्म्येपि । एतदिति । किञ्चित्तारतम्यम् । इह प्रपञ्चरूपे, दृष्टान्ते त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यते । जगत्त्विति । त्रिविधं त्रिगुणात्मकं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटं, तेन तत्तद्गुणनियामकत्वेन ब्रह्मादयो भगवतैव कृता इत्यर्थः । ब्रह्मैकरूपमिति तन्निष्ठानां नियामको हरिरेव । ये तु भगवद्भक्तास्तेषां स्वात्मनि स्वात्मविषये ऐहिके पारलौकिके चार्थे श्रीकृष्ण एव कामचार इत्यर्थः । अथवा । भक्तानां स्नेहातिशयेन स्वात्मत्वेनैव प्रभुः स्फुरतीति सर्वांशेन तत्प्रार्थने शङ्का न भवतीत्यर्थः ।**

---

१. तथा । देवतारूपा सेति पाठः । २. एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुक्तमपि साधर्म्यं यत्र यदंशेन तत्र तथा स्पष्टयन्ति **यथा जलं तथा सर्वमिति** । **तत्राप्येतदिहोच्यत** इति । **तत्रापि** साधर्म्येपि । **एतज्जगत्** तु त्रिविधमित्यारभ्य न चान्यथेत्यन्तेन वक्ष्यमाणं किञ्चित्तारतम्यम् । **इह** प्रपञ्चरूपे तद्दृष्टान्तगङ्गाजले त्रिविधत्वाभावात् अत उच्यत इत्यर्थः । जगदिति पाठान्तरं पुस्तकद्वये । क्वचित् पाठद्वयमपि मूले नास्ति ।

इस प्रकार दृष्टान्त(गंगा) और दार्ष्टान्त(अक्षरब्रह्म)के समधर्मों का निरूपण करके ऊपर कहे गंगा के त्रिप्रकारकस्वरूप के दृष्टान्त द्वारा ब्रह्म के तीन स्वरूप बताए गए, अब उसी अर्थ को पितृचरण **यथा जलम्** इत्यादि शब्दों से स्पष्ट कर रहे हैं। **तत्रापि** का अर्थ है- दृष्टान्तरूप गंगाजल एवं दार्ष्टान्तरूप अक्षरब्रह्म में इतनी समानता होते हुए भी **एतद्** कुछ अंतर **इह** इस प्रपञ्चरूप अक्षरब्रह्म में एवं दृष्टान्त गंगाजल में है, और वह इसलिए है कि जगत में तो त्रिविधता है परन्तु गंगाजल में त्रिविधता नहीं है, जबकि आपश्री को यहाँ जगत की त्रिविधता बतानी है अतः उस त्रिविधता को **जगत्तु** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यानि जगत तो सत्त्वरजतमरूप होने के कारण त्रिविध प्रकार का है किन्तु जगत के स्वरूप को समझाने के लिए दिए गए गंगाजल में कोई त्रिविधता नहीं है जिसके द्वारा जगत की त्रिविधता वाली बात समझायी जा सके अतः जगत के स्वरूप को समझाने के लिए गंगाजल का उदाहरण देने पर भी जगत की त्रिविधता वाली बात स्पष्ट नहीं हो पायी इसलिए आचार्यचरण इसे अलग से कह कर बता रहे हैं- यह प्रभुचरणों का कहना है। **जगत्तु त्रिविधं** अर्थात् जगत त्रिगुणात्मक है, त्रिप्रकारक सत्त्व-रज-तम स्वभाव से प्रकट हुआ है, और ब्रह्मा आदि देवता इन तीनों गुणों के नियामक हैं एवं भगवान ने ही इन देवताओं को जगत के अधिष्ठाता बनाया है- यह अर्थ है। किन्तु अक्षरब्रह्म का तो केवल एक ही रूप है, अक्षरब्रह्म त्रिगुणात्मक नहीं है अपितु निर्गुणस्वरूप है और अक्षरब्रह्मात्मक हो जाने वालों के नियामक तो हरि ही हैं चूँकि अक्षरब्रह्म के नियामक हरि-पुरुषोत्तम हैं, इसलिए अक्षरब्रह्मात्मक बन जाने वालों के नियामक भी हरि-पुरुषोत्तम ही सिद्ध होते हैं। किन्तु जो भगवद्भक्त हैं, उनके **स्वात्मनि** अर्थात् उनके अपने विषयक ऐहिक-पारलौकिक सभी वस्तुओं के लिए उनकी कामनाओं की पूर्ति तो श्रीकृष्ण द्वारा ही होती है- यह अर्थ है। (पूर्वपंक्ति में तो **स्वात्मनि** शब्द का अर्थ अपने स्वयं के लिए किया गया है, अब आगे दूसरे प्रकार से अर्थ कर रहे हैं) अथवा तो **स्वात्मनि** पद को कृष्ण से भी जोड़ सकते हैं, अर्थात् भक्तों की आत्मारूप कृष्ण; इसका अर्थ यह है कि, स्नेहातिशय के कारण भक्तों को तो अपनी आत्मा के रूप में प्रभुश्रीकृष्ण ही स्फुरित होते हैं अतः सर्वांश में या सभी वस्तुओं के लिए वे यदि श्रीकृष्ण से ही प्रार्थना करते हैं- तो इसमें कोई भी शंका नहीं होनी चाहिए- यह अर्थ है।

अथ जीवस्वरूपं तन्मुक्तिप्रकारं चाहुः आत्मनीति ।

आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः ।।१२।।
उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने ।
गङ्गातीरस्थितो यद्वद्देवतां तत्र पश्यति ।।१३।।
तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति ।
संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा ।।१४।।
अपेक्षितजलादीनामभावात्तत्र दुःखभाक् ।
तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः ।।१५।।
आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत् ।
लोकार्थी चेद्भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ।।१६।।
क्लिष्टोऽपि चेद्भजेत्कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा ।

आत्मविषय उच्यत इति शेषः । जीवा ह्यणवोऽक्षरात्मकाः, तदात्मकत्वमविद्ययान्तरायभूतया न विदन्ति । तेन संसारमापद्यन्ते । इदमेवोपाधिरूपत्वं तस्याः, न तु तत्कृतं जीवत्वम् ।

अब पितृचरण जीवस्वरूप एवं उसकी मुक्ति का प्रकार **आत्मनि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आत्मनि पद में **उच्यते** यह पद जोड़कर कारिका का अर्थ करना चाहिए । अर्थात् कारिका का अर्थ ["**आत्मनि उच्यते= ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः**{अब जीवात्मा के विषय में कह रहे हैं कि, ब्रह्मरूप आत्मा में चेतनाएँ(अन्यथाबुद्धि)तो छलनी से आकाश में दिखाई देने वाले छिद्रों की भाँति एक भ्रम है}]" यों करना चाहिए। जीव अणु है, अक्षरात्मक है और जीव अपनी अक्षरात्मकता को अविद्या द्वारा विघ्न कर दिए जाने के कारण नहीं जान पाते। इसी कारण जीव संसार में गिर जाता है। जीव को इस प्रकार से संसार में भटका देना ही मायारूप उपाधि है, माया द्वारा किया जाने वाला प्रतिबन्ध है; किन्तु माया ने जीव को नहीं बनाया है। एतन्मार्गीय सिद्धान्तानुसार ब्रह्म का अंश होने के कारण उसे जीव कहा जाता है,

जीव ब्रह्म से निकला है, मायाकृत नहीं है, माया तो केवल उसे संसार में भटका देती है- यह अर्थ है।

अणुत्वबोधनार्थं दृष्टान्तः । व्योम्नि यथोपाधिभिः क्षुद्रैः छिद्राणीव प्रतीयन्ते, तथात्मनि क्षुद्रत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते । न तु ब्रह्मधर्मा इति बोधनार्थं च ।

अब जीव को अणु(छोटा)बताने के लिए आपश्री ने व्योम(आकाश)का दृष्टान्त देकर कहा है। इससे आपश्री यह बताना चाह रहे हैं कि जिस प्रकार छलनी आदि क्षुद्र उपाधियों द्वारा यदि आकाश को देखा जाय, तो आकाश में छोटे-छोटे छिद्र जैसे होने प्रतीत होते हैं, जबकि वास्तव में आकाश में छिद्र होते ही नहीं हैं; ठीक इसी प्रकार जीव ब्रह्म से बिछड़ कर जब इस जगत में आता है, तो माया की उपाधि के कारण ही उसे अपने आप में सुख-दुःख, कष्ट, मोह, माया इत्यादि क्षुद्र धर्म प्रतीत होने लगते हैं, अक्षरब्रह्म के धर्म प्रतीत नहीं होते जबकि जीव को अपने आप के लिए अक्षरात्मक होने का ज्ञान होना चाहिए था क्योंकि वास्तव में तो वह अक्षरात्मक है, परन्तु माया के कारण उसे अपना मूलस्वरूप विस्मृत हो जाता है।

तेषां मध्ये यं जीवं येन प्रकारेण प्रभुरुद्दिधीर्षुर्भवति, तत्प्रकारकगुरूपदेशादिभिरविद्यालक्षणोपाधेर्ब्रह्मात्मकत्वावबोधनप्रतिबन्धकस्याविद्यात्मकस्य नाशे ब्रह्मात्मकत्वावबोधनलक्षणे विज्ञानेऽनुभवे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता तस्मिन् जाते स्वात्मनि तं प्रकर्षेण पश्यतीत्यर्थः । तस्य सर्वस्वरूपो हरिरेवेति न तदतिरिक्तमपेक्षते । भजनोपयोग्यर्थापेक्षायामपि प्रभुणैव सर्वं सम्पद्यत इति न कदाचिद्दुःखी भवति । एतज्ज्ञापनाय दृष्टान्तः ।

इन माया से लिप्त जीवों में से जिस जीव का प्रभु जिस प्रकार से उद्धार करना चाहते हैं, उसे उस प्रकार के गुरु के उपदेश आदि के द्वारा ब्रह्म का बोध होने में प्रतिबन्धक बनी हुई अविद्या की उपाधि का नाश होने पर जब ब्रह्मात्मकता का अनुभव होता है और उसमें पुरुषोत्तम का आविर्भाव होने की योग्यता आ जाती है, तब वह अपनी आत्मा में परब्रह्म पुरुषोत्तमश्रीकृष्ण का विशिष्टरूप से दर्शन करता है- यह अर्थ है। फिर ऐसे जीव के सर्वस्वरूप हरि ही होते हैं और वह हरि के अतिरिक्त अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता। उसे भजनोपयोगी पदार्थों की भी यदि आवश्यकता हो, तब भी प्रभु ही उसके लिए सभी कुछ संपादित करते हैं अतः वह कभी भी दुःखी नहीं होता अर्थात् जिस प्रकार प्रपञ्चासक्तजीव इस संसार में कष्ट-मोह-माया इत्यादि के कारण दुखी रहता है, वैसे वो जीव दुःखी नहीं होता जिसकी अविद्या नष्ट हो गयी होती है और ब्रह्मबोध हो गया होता है- इन्हीं सब बातों को बताने के लिए पितृचरणों ने गंगा का दृष्टान्त दिया है। गंगा का दृष्टान्त देने का अर्थ यह कि जिस प्रकार माया की उपाधि नष्ट हो जाने के पश्चात् गंगा का भक्त गंगातीर पर गंगा के दर्शन कर लेता है, ठीक उसी प्रकार माया की उपाधि नष्ट हो जाने के पश्चात् भक्त अपनी आत्मा में ब्रह्म का दर्शन कर लेता है।

यस्तु प्रपञ्चासक्तो गुरूपदेशमात्रेण भजने संसारनिवृत्तिहेतुत्वं ज्ञात्वा भजते, न तु ब्रह्मभावसम्पत्त्या पुरुषोत्तमाविर्भाववान्, स तु गङ्गातो दूरस्थो यथा तां भजते, तत्रापेक्षिततज्जलाप्राप्त्या दुःखी भवति, तथा स्वयं भक्तिमार्गस्थ इति साक्षात्स्वरूपसम्बन्ध्यर्थापेक्षायां तदप्राप्त्या क्लेशभाग्भवतीत्यर्थः । तथापि न स भजनं त्यजति, अङ्गीकारात्प्रभोः । अनङ्गीकारे तु मध्ये भजनप्रतिबन्धेपि कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवाज्जन्मान्तरे तत्फलिष्यतीति ज्ञेयम् ।

किन्तु जिसका अविद्यारूप प्रतिबन्ध दूर नहीं हुआ है और स्वयं अपने आप में ब्रह्मात्मकता का बोध नहीं हुआ है, ऐसा प्रपञ्चासक्त भक्त जो केवल गुरू ने उपदेश दिया है इस कारण *"भगवद्भजन से संसारनिवृत्ति होगी"* ऐसा उद्देश्य रखकर भजन कर रहा है और साथ ही साथ जिसे ब्रह्मभाव प्राप्त होकर उसमें पुरुषोत्तम का आविर्भाव नहीं हुआ है, ऐसा भक्त तो ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कोई व्यक्ति गंगा से दूर होकर गंगा का भजन करता है तो उसे अपेक्षित गंगाजल, गंगातीर्थ इत्यादि प्राप्ति नहीं होते और वह दुःखी होता रहता है, ठीक उसी प्रकार संसारनिवृत्ति की कामना रखता होने पर भी चूँकि वह है तो भक्तिमार्गीय अतः प्रभु से दूर होने के कारण साक्षात् भगवत्सम्बन्ध प्राप्त न होने के कारण वह क्लेश पाता है- यह अर्थ है। इसका तात्पर्य यह है कि, गंगा से दूर बैठा व्यक्ति गंगाजल या गंगातीर्थ नहीं पा सकता। इस दृष्टान्त से आचार्यचरणों को यह बात समझानी है कि, यदि स्वाभाविक प्रवृति भगवद्भजन करने में न हो और केवल गुरु के आग्रह करने के कारण ही भजन करता हो और संसारासक्ति बनी रहे या लौकिकपदार्थों की कामनाओं की इच्छा बनी रहे तो भले ही वह भगवद्भजन करता हो, तथापि, अंततोगत्वा तो उसका चित्त संसार में लगा हुआ है अतः वह प्रभु से दूर ही है, इसलिए इस प्रकारक भगवद्भजन करने पर भी उसे भगवत्प्राप्ति नहीं होती, अलौकिक अनुभव नहीं होते, एतन्मार्गीयफल

प्राप्त नहीं होते, इस कारण वह दुःखी होता रहता है। किन्तु ऐसा भक्त क्लेश पाता हुआ भी भगवद्भजन का त्याग नहीं करता क्योंकि अंततोगत्वा तो प्रभु ने उसे अंगीकार किया होता है। किन्तु यदि भगवान ने उसे इस जन्म में अंगीकार न किया हो, तो इस परिस्थिति में होता यह है कि बीच में भले ही उसके भजन में प्रतिबन्ध आ जाय, तथापि, चूँकि किया हुआ भजन व्यर्थ नहीं जाता अतः उसे अगले जन्मों में कभी न कभी भजन का फल प्राप्त होगा- यह समझना चाहिए।

आत्मानन्दसमुद्रस्थमिति । श्रीकृष्णपदात्पुष्टिमार्गीयभक्तप्रकटितनिरवध्यानन्देषु विहरन्तमित्यर्थः । ते तु व्रजरत्नात्मका इति मन्मतिः । स आनन्दो भगवत्स्वरूपात्मकस्तद्दत्त एव । अत आत्मपदं भगवत्परम् ।।१३।।१४।।१५।।१६।।

अब **आत्मानन्दसमुद्रस्थं** इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। इस पंक्ति में कहे 'श्रीकृष्ण' पद से पितृचरणों ने पुष्टिमार्गीयभक्तों के लिए प्रकट किए अपने निरवधि आनन्द में विहार करने वाले श्रीकृष्ण कहे हैं। मेरा मानना तो यह है कि, ऐसे पुष्टिमार्गीयभक्त तो व्रजरत्नरूपा गोपिकाएँ ही हैं, जिनको प्रभुश्रीकृष्ण ने अपना ऐसा निरवधि आनन्द प्रदान किया है। और श्रीकृष्ण का ऐसा आनन्द तो भगवत्स्वरूपात्मक ही है और स्वयं भगवान ने ही गोपिकाओं को दिया है, इसीलिए **आत्मानन्द** शब्द में 'आत्म' शब्द को भगवान का वाचक मानना चाहिए। **आत्मानन्दसमुद्रस्थं** पद का अर्थ समझें। प्रभुचरण आज्ञा कर रहे हैं- इसमें 'आत्मा' पद का अर्थ भगवान हैं। इस दृष्टि से आत्मा+आनन्द का अर्थ हुआ- भगवान का अपना आनन्द। आपश्री आज्ञा करते हैं, भगवान ने अपने आनन्द का समुद्र तो व्रजभक्तों को ही दिया है अतः व्रजभक्तों में ही विद्यमान है इसलिए अपने आनन्द को व्रजभक्तों को देकर उनके संग आनन्द करने वाले श्रीकृष्ण को 'आत्मानन्दसमुद्रस्थ' कहा जायेगा अर्थात् अपने आनन्द के समुद्र में विहार करने वाले। श्रीकृष्ण ऐसे 'आत्मानन्दसमुद्रस्थ' हैं, जो इसप्रकारक अपने द्वारा प्रकटित आनन्द में विहार करते हैं- यह तात्पर्य है ॥13॥14॥15॥16॥

स्वस्वरूपज्ञानप्रभुस्वरूपज्ञानाभाववान् भक्तोऽपि पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधः । उभयोश्चित्तचाञ्चल्याभावायाहुः ज्ञानाभाव इति ।

ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु ।।१७।।
मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः ।
अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः ।।१८।।
उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति ।
ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः ।।१९।।

पुष्टिमार्गीये विशेषमाहुः अनुग्रह इति । तस्य स्थितौ न देशनियमः, किन्तु प्रभुरनुगृह्य यत्रैव यथा स्थापयति, तत्रैव तिष्ठति तथा । तस्य विधिर्न नियामक इति भावः । मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्तौ चेदनुगृह्णाति विशेषतः, तदा आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयां भक्तिं प्राप्नुत इत्याहुः उभयोरिति । यदि मर्यादायामेवाङ्गीकारः, तदोभयोर्मुक्तिरेव फलिष्यतीत्याशयः । एवं निरूपणे तात्पर्यमाहुः ज्ञानाधिक इति ।

अपने स्वरूप का ज्ञान न हो एवं प्रभुस्वरूप का ज्ञान न हो, ऐसा भक्त भी 'पुष्टिमार्गीयभक्त' और 'मर्यादामार्गीयभक्त' के भेद से दो प्रकार का होता है। इन दोनों के चित्त की चञ्चलता को दूर करने का उपाय आपश्री ने **ज्ञानाभावे** इत्यादि शब्दों से कहा है। ऊपर कहे दोनों प्रकार के भक्तों में से पुष्टिमार्गीय के लिए विशेष बात आपश्री **अनुग्रह** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। पुष्टिमार्गीय के लिए चित्तचञ्चलता दूर करने के लिए किसी विशिष्ट स्थान में रहने का नियम आवश्यक नहीं है, किन्तु प्रभु अनुग्रह करके उसे जहाँ जिस प्रकार से रखें, वह वहीं उस प्रकार से रहता है। तात्पर्य यह है कि, उसे निवास के लिए किसी विधि का कोई बन्धन नहीं है। किन्तु मर्यादास्थ 'ज्ञानी(ज्ञानसहित भक्तिरहित)' एवं मर्यादास्थ 'भक्त(भक्तिसहित ज्ञानरहित)' इन दोनों पर भी यदि प्रभु विशेषरूप से अनुग्रह करना चाहते हैं, तब तो परिस्थिति यह बनती है कि, ये पहले तो पुष्टिमार्ग में आते हैं और पुष्टिमार्गीयभक्ति प्राप्त करते हैं और तब भगवान इन पर अनुग्रह करते हैं- यह दोनों बातें आपश्री ने **उभयोस्तु क्रमेणैव** इत्यादि शब्दों से कही हैं। और यदि प्रभु इन्हें मर्यादा में ही अंगीकार/स्वीकार करना चाहते हैं, तब तो इन दोनों को मुक्ति ही फलित होगी- यह पितृचरणों का आशय है। इसप्रकारक निरूपण करने का तात्पर्य पितृचरणों ने कारिका में **ज्ञानाधिको भक्तिमार्गः**(ज्ञानमार्ग से अधिक श्रेष्ठ भक्तिमार्ग है)इत्यादि शब्दों से कहा है। यानि आचार्यचरण इस कारिका द्वारा भक्तिमार्ग को ज्ञानमार्ग की तुलना में श्रेष्ठ बताना चाह रहे हैं।

लोकेऽधुना भक्तेरपि ज्ञानं फलं, तस्य मुक्तिरेवेति सर्वे वदन्ति । तत्र ज्ञानं हि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानम् । ब्रह्म चाक्षरात्मकम्, तदात्मकत्वेन सर्वज्ञानं च । एतावतापि पुरुषोत्तमसम्बन्धस्तु दूरतरः । तस्य अक्षरातीतत्वात् । अत एवार्जुनेन पुरुषोत्तमाक्षरभजनयोस्तारतम्यं पृष्टः स्वभजन आधिक्यमाह गीतासु द्वादशेऽध्याये । गङ्गायां च क्षराक्षरपुरुषोत्तमतारतम्यदृष्टान्तः स्पष्टः । न हि देवी तीर्थात्मिका जलात्मिका वा, किन्तु जल एव तीर्थात्मकत्वं जानन् ज्ञानी भवति । तदतीतदेवतात्मकदर्शने भक्तत्वम् । न हि भक्त्या देवताद्रष्टृसमः पूर्वो भवति । अत एव पुरुषोत्तमं मां जानन् मामेव सर्वभावेन भजतीति 'यो मामेवमसंमूढ' इत्युपक्रम्य 'भजति मां सर्वभावेने'ति प्रभुरुक्तवान् । अतो ज्ञानमार्गीयस्यापि पुरुषोत्तमविदोपि भक्तिनिष्ठैव फलमिति किमितोऽधिकं वाच्यम्, अनेकप्रमाणसिद्धत्वादिति विद्वद्भिर्ज्ञेयम् ।

लोक में इस समय सभी ऐसा कह रहे हैं कि भक्ति का फल भी ज्ञान है और ज्ञान का फल मुक्ति ही है, इसलिए लोक में यह मान्यता है कि चरमफल मुक्ति है, भक्ति नहीं। किन्तु यहाँ समझने वाली बात यह है कि 'ज्ञान' का अर्थ है- ब्रह्म से ऐक्य होने का ज्ञान। साथ ही साथ लोक में ब्रह्म को अक्षरात्मक समझा जाता है और इस प्रपञ्च में सभी कुछ अक्षरात्मक है- इस प्रकार से जान लेने को ज्ञान प्राप्त होना कहा जाता है। किन्तु इतना सब जान लेने के उपरांत भी मर्यादामार्गीयज्ञानी को या मर्यादामार्गीयभक्त को पुरुषोत्तम से सम्बन्ध हो पाना तो दूरतर ही है। क्योंकि पुरुषोत्तम तो अक्षरब्रह्म से भी ऊपर की कक्षा में है। अतएव अर्जुन ने भगवद्गीता के बारहवें अध्याय के अंतर्गत जब पुरुषोत्तमभजन एवं अक्षरब्रह्मभजन में अंतर पूछा, तो भगवान ने अपने भजन की अधिकता बतायी। और इस ग्रन्थ में दिए गंगा के दृष्टान्त द्वारा भी क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम में अंतर होना स्पष्टतया ज्ञात होता है। क्योंकि जो आधिदैविकी देवीरूपा गंगा है, वह न तीर्थात्मिका है और न ही जलात्मिका अपितु इन दोनों से भी ऊपर की कोटि में है; ठीक इसी प्रकार आधिदैविक पुरुषोतमस्वरूप न प्रपञ्चरूप है और न ही अक्षरब्रह्मरूप अपितु इन दोनों से भी ऊपर की कोटि में है, अतः ज्ञानी की तुलना में भक्त की श्रेष्ठता इसलिए है क्योंकि जिसे प्रवाहित होते गंगाजल में जब तीर्थरूप होने का भान होता है, तब तो वह मात्र 'ज्ञानी' कहा जाता है; किन्तु प्रवाहितजल एवं तीर्थरूप से भी ऊपर की कोटि में देवीरूपा गंगा का दर्शन करने वाले को तो 'भक्त' कहा जाता है। भक्ति द्वारा देवतारूप गंगा को देख सकने वाले भक्त की तुलना में पूर्व में कहा हुआ गंगा को तीर्थरूप से जानने वाला ज्ञानी नहीं आ सकता, तात्पर्य यह कि भक्ति से देवता का दर्शन पा जाने वाला भक्त गंगा को तीर्थरूप से जानने वाले ज्ञानी की तुलना में श्रेष्ठ है। अतएव प्रभु ने भी *"यो मामेवमसंमूढः"* यहाँ से आरम्भ करके *"भजति मां सर्वभावेन(भ0गी-15/19)"* यहाँ तक कहा है। अतः ज्ञानमार्गीयों के लिए भी एवं पुरुषोत्तम को जान लेने वालों के लिए भी भक्ति में निष्ठा रखनी ही फल है, अतः अब इससे अधिक क्या कहें कि ज्ञान से बढ़कर भक्ति है, क्योंकि यह बात तो अनेक प्रमाणों द्वारा सिद्ध है, जो विद्वानों को जान लेनी चाहिए।

ऋग्वेदेपि पठ्यते 'तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन । आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ।' हे स्तोतारो मदुत्कर्षवर्णनपराः पूर्व्यं सर्वकारणकारणरूपं तं लोकवेदप्रसिद्धं पुरुषोत्तमं भवन्तो यथावद्विदन्ति तत्स्वरूपमिति तथाभूताः । ऋतस्य सूनृतवाणीरूपस्य वेदस्य गर्भरूपम् । स्वोदरस्थं वेदं विश्वहितार्थं ब्रह्मण उपदिष्टवानिति तथा । जनुषा स्वजन्मनैव सम्पूर्णेन, न तु क्षणयाममात्रेण पिपर्तन पूर्तियुक्तं सन्तुष्टं कुरुत । अत्र यथावित्त्वोक्त्या पूर्णज्ञानानां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवांस्तदर्थमेव तद्भजनार्थमेवोपयुक्तान् कुरुतेति भक्तिमार्गे विनियोगमुपदिशति । तेन स्फुटमेव ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यमवगम्यते । भक्त्या विना न कोपि पुरुषार्थः सिध्यतीति हृदयेनाहाग्रे देहादिसर्वविनियोगाशक्तौ आसमन्ताज्जानन्तोऽखण्डशब्दब्रह्मरूपं, न तु लौकिकशब्दरूपमिति नामस्वरूपं जानन्तस्तदेव विवक्तन विशेषेण वदन्तु । अधिकमाहात्म्याद्यज्ञाने नाममात्रमुत कीर्तयन्तु । एतेनैव भगवत्स्वरूपतन्माहात्म्यादिकं ज्ञातं भविष्यतीत्याशयेनाह नामस्वरूपम् । चिदिति । चिदित्युपलक्षणम् । सच्चिदानन्दात्मकमित्यर्थः ।

इसके आगे श्रीप्रभुचरणों ने यह सिद्ध किया है कि, उद्धृत ऋग्वेद के मन्त्रों का तात्पर्य भी भगवत्सेवा, सत्संग, कीर्तन इत्यादि रूप से भक्ति करनी ही है, जो सिद्धान्त आचार्यचरणों ने इस मार्ग के अंतर्गत बताया है। ऋग्वेद में भी *"तमु स्तोतार......... भजामहे(111/157/311)"* यों पाठ आता है। श्रुति कहती है- **हे स्तोतार** ! अर्थात् हे मेरे उत्कर्ष का वर्णन करने वालों ! **पूर्व्यं** अर्थात् समस्तकारणों(अक्षरब्रह्म)के भी कारणरूप(परब्रह्म) **तं** अर्थात् लोकवेदप्रसिद्ध पुरुषोत्तम को, आप

सभी यथावत् जानने वाले हैं। पुरुषोत्तम **ऋतस्य** यानि सत्यवेदवाणी का कारणरूप है क्योंकि पुरुषोत्तम ने अपने उदरस्थ वेद को विश्व का कल्याण करने हेतु ब्रह्मा को उपदिष्ट किया है। वेदवाणी द्वारा जाने गए ऐसे पुरुषोत्तम को आप सभी एक क्षण या कुछ समय के लिए नहीं अपितु अपने सम्पूर्ण जन्म का विनियोग करके **पिपर्तन** अर्थात् प्रसन्न करिए(अर्थात् एतन्मार्गीय दृष्टि से कहना हो तो, ऐसे पुरुषोत्तम की सेवा करें- यह अर्थ सामने आता है)। मन्त्र में **'यथाविद्'** पाठ कहा गया है, जिसका तात्पर्य है- पुरुषोत्तम का पूर्णज्ञान रखने वाले; ऐसे पूर्णज्ञानी भी देह-इन्द्रिय-प्राण-अन्तःकरण-जीव इत्यादि सभी को पुरुषोत्तमभजन में ही योजित करें- ऐसा कहकर श्रुति अंततोगत्वा तो ज्ञानियों को भी अपने आप को भक्तिमार्ग में विनियोग कराने का उपदेश दे रही है। इस ऋग्वेद के मन्त्र द्वारा ज्ञानमार्ग की तुलना में भक्तिमार्ग की अधिकता स्पष्टतया ही जानी जा सकती है। भक्ति के बिना कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हो सकता इसलिए अपनी बात का हार्द कहती हुई श्रुति आगे कहती है- जब आप पुरुषोत्तम में देह आदि समस्त इन्द्रियों का विनियोग करने में असमर्थ हो जाएँ, तब पुरुषोत्तम को पूर्णरूपेण जानते हुए, अर्थात् उसे अखण्डशब्दब्रह्मरूप जानते हुए, अर्थात् उसे लौकिकशब्दरूप न समझते हुए उसके नामस्वरूप को जानते हुए **चिद्विवक्तन** अर्थात् उसके स्वरूपज्ञान का ही विशेषरूप से वर्णन करें। अथवा यदि पुरुषोत्तम के माहात्म्य का अधिक ज्ञान न हो, तो केवल उसके नाम का ही कीर्तन करें। नामसंकीर्तन करने से ही भगवत्स्वरूप एवं उसके माहात्म्य आदि का ज्ञान हो जायेगा- इस आशय से श्रुति पुरुषोत्तम के नाम का स्वरूप इस मन्त्र के अन्तर्गत **चित्** इत्यादि शब्दों से समझा रही है। 'चित्' तो केवल उपलक्षण है, श्रुति को कहना यह है कि पुरुषोत्तम को 'सच्चिदानन्द(सत्+चित्+आनन्द)जानते हुए नामसंकीर्तन करें।

नामस्वरूपाज्ञाने तदुपदेष्टृगुरूपसत्तिः कार्येत्याशयेनाह महस्त इत्यादि । ते त्वत्सम्बन्धिनं सुमतिं निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तं भजामहे । स च स्वतेजसा पराज्ञाननिरासक इत्याह मह इति । तेजोरूपमित्यर्थः । स्वहृदि सदा श्रीकृष्णप्राकट्येनोत्सवात्मकमिति वा । एतेन ज्ञानिनां भक्तिमार्गप्रवेश एवोपदिष्टो भवति । एवमेव 'तद्विष्णोः', 'तद्विप्रास' इत्यादि श्रुतिसहस्रैर्निगद्यत इति सुष्ठूक्तं ज्ञानमार्गादधिको भक्तिमार्ग इति ।।१७।।१८।।१९।।

यदि पुरुषोत्तम के नामस्वरूप का ज्ञान नहीं है तो नामस्वरूप का उपदेश करने वाले गुरु की उपसत्ति(शरणागति)करनी चाहिए- यह बात कहने के लिए श्रुति ने **महस्ते** इत्यादि पद कहे। इसमें **ते** का अर्थ है- "हे पुरुषोत्तम आपसे सम्बन्धित सुज्ञ(सुंदर मति वाले)! अर्थात् पुरुषोत्तम को निर्दोषपूर्णगुणरूप से जानने वाले भगवद्भक्तगुरु की शरण हम लेते हैं। **मह** का अर्थ है- तेजरूप; इसलिए ऐसा गुरु अपने ज्ञानतेज के द्वारा दूसरे के अज्ञान का निराकरण करने वाला है- यह बात बताने के लिए श्रुति ने **मह** पद कहा है। अथवा तो **मह** शब्द का अर्थ उत्सव/आनन्द भी होता है अतः **मह** का अर्थ यों करें कि जिसके हृदय में श्रीकृष्णप्राकट्य हो चुका है और उस कारण वह भीतर से आनन्दित है, ऐसे भगवद्भक्तगुरु की उपसत्ति करनी चाहिए अर्थात् ऐसे भक्त को गुरु बनाना चाहिए। ऋग्वेद के इन मन्त्रों का अर्थ करने पर यह बात ज्ञात होती है कि, ज्ञानियों को भी ऋग्वेद की श्रुतियाँ भक्तिमार्ग में ही प्रवेश करने का उपदेश दे रही हैं। इसी प्रकार *'तद्विष्णोः(सामवेद/कौथुमी शाखा/आग्नेय काण्ड/अष्टक प्रपाठक/1669/1672)(गो0ता03प-4)(वि0सू-4/1)'*, *'तद्विप्रासो विपन्यवो(वि0सू-5/1)'* इत्यादि हजारों श्रुतियाँ भी भक्तिमार्ग की ही श्रेष्ठता बता रही हैं, अतः पितृचरणों ने ठीक ही कहा कि- ज्ञानमार्ग से अधिक बड़ा भक्तिमार्ग है॥17॥18॥19॥

गङ्गादृष्टान्तस्य तात्पर्यान्तरमाहुः भक्त्यभाव इति ।

भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः ।
अन्यथाभावमापन्नस्तस्मात्स्थानाच्च नश्यति ।।२०।।
एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम् ।
एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात् ।।२१।।

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा ।।

भगवत्सान्निध्यदेशेऽपि स्थितौ भक्त्यभावे तथा भवतीति भावः । एतेन भक्तेरावश्यकत्वमुक्तं भवति ।।२०।।२१।।

[१]इति श्रीपितृपादाब्जपरागरससिक्तहृत् ।

---

[१] अदलितनलिनीदलैव वापी यदहतपल्लव एव काननान्तः । प्रियसखि न जगाम वामशीलः स्फुटममुना नगरेण नन्दसूनुः ।। २ ।।
इत्यधिकं पद्यं क्वचित् ।

श्रीविट्ठलस्तत्सिद्धान्तवाङ्मालां हृदये दधौ ।।१।।

गंगा का दृष्टान्त देने का दूसरा तात्पर्य पितृचरणों ने **भक्त्यभावे** इत्यादि शब्दों से कहा है।

आपश्री के कहने का तात्पर्य यह कि यदि हृदय में भक्ति नहीं है, तो भगवत्सन्निधि वाले देश में रहने के उपरांत भी वह अन्यथाभाव को प्राप्त हो जायेगा अर्थात् भक्ति से प्राप्त होने वाले फलों से वंचित रह जायेगा, प्रतिबन्ध आयेंगे आदि। इस कथन के द्वारा आपश्री ने भक्ति की आवश्यकता बतायी है ॥20॥21॥

इस प्रकार श्रीपितृचरणकमल के परागरस से ओतप्रोत हृदय वाले
मुझ श्रीविट्ठल ने आपश्री की सिद्धान्तरूपी वाणी की माला हृदय में धारण की ॥1॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तमुक्तावली ।

श्रीमद्गोकुलनाथकृतविवृतिटिप्पणी ।

यद्वाञ्छयैव मोक्षान्ताः पुमर्था अधरीकृताः ।
स कोऽपि पितृपादाब्जरेणुर्मह्यं प्रसीदतु ।।१।।

अग्रे वक्ष्यमाणैरिति । मायिकं सगुणमित्यादिभिरित्यर्थः । तत्र परस्परविरोधस्य स्पष्टत्वात् । साक्षाच्छ्रुतिनिरूपितं वक्ष्यामीति विशब्दार्थः । तस्यैव स्वकीयत्वज्ञापनाय स्वपदम् । **अशेषाणामिति** । आसुरव्यतिरिक्तानामशेषाणामित्यर्थः । अत एव भगवता गीतं 'आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गति'मिति । न हि दासः कदापि प्रभुं न प्राप्नोतीति तथार्थ उक्तः ।

जिसकी मात्र कामना करने से मोक्ष तक के समस्त पुरुषार्थ हस्तगत हो जाते हैं,
ऐसी अनिर्वचनीय पितृचरणकमलों की रेणु मुझ पर प्रसन्न हो ॥1॥

प्रभुचरणों के **अग्रे वक्ष्यमाणैः** इत्यादि शब्दों का अर्थ है- ग्रन्थ में आगे कहे गए 'मायिकं', 'सगुणं' इत्यादि अनेक विरुद्धसिद्धान्त; जिनके कारण शास्त्र का वास्तविक अर्थ करने में सन्देह होता है, वे सिद्धान्त। चूँकि इन सभी सिद्धान्तों में परस्पर विरोध तो स्पष्ट दिखाई दे ही रहा है अतः सन्देह तो होता ही है। आचार्यचरणों द्वारा कहे **विनिश्चयम्** पद में **'वि'** उपसर्ग जोड़ने का अर्थ यह है कि, साक्षात् श्रुतियों ने ब्रह्म के जिस स्वरूप का प्रतिपादन किया है, आपश्री उस सिद्धान्त को यहाँ विशेषरूप से निश्चित करके कहेंगे। श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही हमारा सिद्धान्त है- यह बात बताने के लिए आचार्यचरणों ने **सिद्धान्त** पद में **'स्व'** पद जोड़ कर कहा है(अर्थात् श्रुतियों द्वारा जो सिद्धान्त निरूपित हुआ है, उसी सिद्धान्त का भलीभाँति निश्चय करने के पश्चात् उसी सिद्धान्त को आचार्यचरणों ने ग्रहण किया है और उसे ही अपना सिद्धान्त बनाया है- इस आशय से आपश्री ने 'सिद्धान्त' पद में 'स्व' पद जोड़कर कहा है)। प्रभुचरणों के **अशेषाणाम्** पद का अर्थ है- आसुरीजीवों के अतिरिक्त अन्य सभी जीव भगवान के सहज दास हैं। इसी कारण भगवान ने गीता में "*आसुरी मुझे कभी भी प्राप्त नहीं करते(भ0गी-16/20)*" यों कहा है। क्योंकि ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता कि दास प्रभु को प्राप्त न करें, इसलिए यदि सभी के साथ-साथ आसुरीजीवों को भी दास की कोटि में गिन लिया जाय, तो फिर ऐसा कहना पड़ेगा कि आसुरी भी प्रभु को प्राप्त करते हैं, जो बात उक्त गीतावाक्य से विरुद्ध चली जायेगी, अतः प्रभु के दासों के अंतर्गत आसुरीजीवों को नहीं गिनना चाहिए।

ननु मानससेवायाः सर्वात्मपरत्वे को हेतुरिति चेत्तत्राहुः **फलरूपेति** । फलरूपत्वमेव विवृतं **यथा व्रजसीमन्तिनीनामिति** । एतत्प्रकारातिरिक्तप्रकारकमानससेवायाः फलरूपत्वाभावात् तत्परत्वमुक्तमिति भावः । सर्वात्मभावस्य मनोधर्मत्वात्तत्पूर्विकायास्तस्या मानसीत्वमुक्तमिति न काचित्क्षतिः ।।१।।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, मानसीसेवा को सर्वश्रेष्ठ कहने में क्या हेतु है ? तो इसका हेतु प्रभुचरण मानसीसेवा को **फलरूपा** कहकर बता रहे हैं। मानसीसेवा की फलरूपता को ही प्रभुचरणों ने **यथा व्रजसीमन्तिनीनाम्** इत्यादि शब्दों से विवृत किया है। इन व्रजसीमन्तिनियों द्वारा की गयी प्रभुसेवा के प्रकार से अतिरिक्त प्रकारक मानसीसेवा फलरूपा नहीं है अतः गोपिकाओं द्वारा की गयी प्रभुसेवा को ही भगवान ने "*ता नाविदन्(श्री0भा-11/12/12)*" इस श्लोक द्वारा सर्वश्रेष्ठ बताया है- यह भाव है। सर्वात्मभाव का उदय होना मन का धर्म है अर्थात् सर्वात्मभाव मन में उदय होता है अतः व्रजसीमन्तिनियों द्वारा अपने मन को भगवान में पूर्णतया योजित करके भगवान की सेवा करने को प्रभुचरणों ने मानसीसेवा कहा है ॥1॥

ननु एवमाधुनिकैस्तादृशाधिकाररहितैस्तन्मार्गप्रवर्तकाचार्योक्तप्रकारेण क्रियमाणसेवाया अनुपयोगमाशङ्क्याहुः **उक्तसेवासाधने इति** । तेषां तादृशाधिकाराभावेपि तदुक्तप्रकारेण क्रियमाणत्वात्पूर्वोक्तमेव फलं सम्भवतीत्यर्थः । यथा चैतत्तथा भक्तिहंसे विस्तृतं पितृचरणैरिति नात्र विस्तरः ।।२।।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, यदि व्रजसीमन्तिनियों द्वारा की गयी सेवा ही सर्वश्रेष्ठ सेवा है और उसी को मानसीसेवा कहा जाता है, तो फिर आधुनिकजीवों का तो व्रजगोपिकाओं के समान अधिकार है ही नहीं और साथ ही साथ व्रजभक्तों के मार्ग के प्रवर्तक आचार्यचरणों ने जो तनुवित्तजासेवा का प्रकार बताया है, वह भगवत्सेवा भी इस दृष्टि से अनुपयोगी सिद्ध हो जायेगी !! तो प्रभुचरणों ने इसका समाधान **उक्तसेवासाधने** इत्यादि शब्दों से किया है। इस पंक्ति का तात्पर्य यह है कि, यद्यपि आधुनिकजीवों का व्रजभक्तों जैसा अधिकार नहीं है तथापि आचार्यचरणों द्वारा कहे प्रकार से सेवा करने पर पूर्व में कहा मानसीसेवा सिद्ध हो जाने वाला फल आधुनिकजीवों को भी प्राप्त होना संभव बन सकता है- यह अर्थ है। यह सभी मुद्दे पितृचरणों ने 'भक्तिहंस' में विस्तार से कह दिए हैं अतः यहाँ हम उनका विस्तार नहीं कर रहे हैं ॥2॥

सच्चिदानन्दकमित्यस्यापि पुरुषोत्तमपरत्वव्यावृत्त्यर्थमाहु: कप्रत्ययेनेति । कुत्सार्थे कप्रत्यय: । कुत्सात्र हीनता, तेनागणितानन्दात् गणित: एव स हीन एवेति स्पष्टमेवाक्षरपरत्वमिति भाव: । पूर्वपदे परब्रह्मपदप्रयोगादत्र बृहत्पदप्रयोगादप्यस्य पदस्याक्षरपरत्वमिति ज्ञायते, अन्यथा परब्रह्मबृहत्पदाभ्यां पौनरुक्त्यं स्यात्, पूर्वपदे परपदं च न स्यादित्यर्थ: ।

अब कोई ऐसा न समझ बैठे कि **सच्चिदानन्दकं** पद का ही अर्थ पुरुषोतम है, अतः आचार्यचरणों ने सच्चिदानन्द पद में 'क' प्रत्यय जोड़कर कहा है। आचार्यचरणों ने 'कुत्सा' अर्थ में 'क' प्रत्यय का प्रयोग किया है और कुत्सा का अर्थ हीनता समझना चाहिए। जिसका तात्पर्य यह हुआ कि, अगणितानन्द की तुलना में गणितानन्द तो हीन ही होता है अतः स्पष्ट ही है कि 'सच्चिदानन्दकं' पद का अर्थ अक्षरब्रह्म ही है, पूर्णपुरुषोत्तम नहीं- यह भाव है। इसमें एक बात यह भी है कि, चूँकि **सच्चिदानन्दकं** पद के पहले ही अलग से **परं ब्रह्म** पद का प्रयोग है जो कि बताता है कि परब्रह्म इसके अतिरिक्त है और साथ ही साथ सच्चिदानन्दकं के साथ **बृहत्** पद का भी प्रयोग है अतः **सच्चिदानन्दकं** पद का अर्थ बृहत्/अक्षरब्रह्म ही है- यह जानने मिलता है। यदि आचार्यचरणों को 'परं ब्रह्म' एवं 'बृहत्' इन दोनों पदों से एक ही ब्रह्म बताना होता तो आपश्री के कथन में पुनरुक्तिदोष आ जाता, साथ ही साथ आपश्री ने पहले वाले ब्रह्म के संग 'परं' पद भी जोड़ा न होता अतः'परं' यह विशेषण बताता है कि पहले वाले यानि 'परं ब्रह्म' पद के द्वारा आचार्यचरणों को मूलस्वरूप श्रीकृष्ण बताने हैं एवं 'बृहत्' पद के द्वारा अक्षरब्रह्म- यह अर्थ है।

विरुद्धधर्मैरिति । प्रपञ्चरूपत्वाप्रपञ्चत्वरूपैरित्यर्थ: । दृश्यत्वाव्यवहार्यत्वाद्यैरित्यर्थ: । विरोधाभावादिति । ननु विरोधस्य परिदृश्यमानत्वात्कथं तदभाव इति चेत् । न । श्रुत्यैकगम्यत्वाद् ब्रह्मस्वरूपस्य । तत्र च तथैव प्रतिपादितत्वात्तादृशमेव तदिति मन्तव्यम् । अन्यथा श्रुतेरप्रामाणिकत्वापत्तेरिति भाव: ।।३।।

प्रभुचरणों के **विरुद्धधर्मैः** इत्यादि शब्दों द्वारा अक्षरब्रह्म में विरुद्धधर्म होने का तात्पर्य यह है कि, अक्षरब्रह्म प्रपञ्चरूप है भी और नहीं भी है। ऐसा इसलिए क्योंकि अक्षरब्रह्म प्रपञ्चरूप/जगतरूप से दृष्टिगत भी होता है, साथ ही साथ अक्षरब्रह्मस्वरूप होने के कारण व्यवहार में भी नहीं आ सकता- यह अक्षरब्रह्म में विरुद्धधर्माश्रय होने का अर्थ है। व्यवहार में न आने का अर्थ है- अक्षरब्रह्म को देखा नहीं जा सकता, सुना नहीं जा सकता, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता इत्यादि। प्रभुचरणों के **विरोधाभावात्** शब्द का अर्थ समझें। आपश्री की इस पंक्ति में प्रश्न यह होता है कि, अक्षरब्रह्म के दोनों स्वरूपों में परस्पर विरोध तो साफ़ दिखाई देता ही है, फिर प्रभुचरण ऐसा क्यों कह रहे हैं कि दोनों स्वरूपों में विरोध नहीं है ! तो आपश्री ने इसका स्पष्टीकरण देते हुए आगे यह भी लिखा कि ब्रह्म का स्वरूप केवल श्रुति के आधार पर जाना जा सकता है, यानि श्रुति ने ब्रह्मस्वरूप का जिस प्रकार से वर्णन किया है, उसका स्वरूप वैसा ही मानना पड़ेगा और श्रुति ने ब्रह्म के स्वरूप का इसी प्रकार से वर्णन किया है यानि विरुद्धधर्माश्रयप्रकार से ही प्रतिपादित किया है अतः ब्रह्म का स्वरूप ऐसा ही है, जैसा श्रुति ने बताया है- यह मानना चाहिए। यदि ब्रह्म में विरुद्धधर्माश्रय होने वाली श्रुति की बात न स्वीकारी जाय, अर्थात् श्रुति के कुछ अंशों को तो माना जाय और कुछ अंशों को न माना जाय तो श्रुति में ही अप्रामाणिकता होने की आपत्ति आ खड़ी होगी- यह भाव है॥3॥

स्वमतनिरूपणेनैवेति । श्रुतिनिरूपितत्वात्स्वमतस्येत्यर्थ: । एतदेवोक्तं 'स हैतावा'नित्यादिभि: ।

अब प्रभुचरणों ने जो आचार्यचरणों के संदर्भ में **स्वमतनिरूपणेनैव** यह कहा है, उसकी व्याख्या करते हैं। प्रभुचरणों के कहने का तात्पर्य यह है कि, चूँकि श्रुति में भी ब्रह्म का स्वरूप इसी प्रकार से निरूपित हुआ है और आचार्यचरणों ने भी श्रुति के आधार पर ही अपने मत को स्थापित किया है अतः आचार्यचरण यदि **स्वमत** का निरूपण करें तो अपने आप ही अन्य

मतों का निराकरण हो जायेगा- यह अर्थ है। आचार्यचरणों ने ब्रह्म का जो स्वरूप बताया, वही प्रकार *"स हैतावानास(बृहदा-1/4/3)'* इत्यादि श्रुतियों में भी वर्णित हुआ है।

पूर्वमक्षरात्मकस्यैव गङ्गादृष्टान्तेन द्विरूपत्वमुपपाद्य तस्याप्यधिष्ठाता पुरुषोत्तम एवेति ज्ञापनायाहुः अस्तीति । त्रिरूपत्वमेव विवृण्वन्ति आधिभौतिकमित्यादि । आध्यात्मिक्यास्तीर्थरूपत्वे प्रमाणमाहुः योद्धृतजलेति । अस्यायमाशयः । यथा प्रवाहोद्धृतजले [१]गङ्गाजलत्वाविशेषज्ञानेपि तत्कृतस्नानादेर्न तदुक्तफलजनकत्वम्, एवमक्षराभिन्नत्वेन ज्ञातस्यापि प्रपञ्चस्य ध्यानादिना न मोक्षादिसिद्धिरित्यर्थः ।

अब अक्षरात्मकब्रह्म की द्विरूपता गंगादृष्टान्त द्वारा बताकर 'अक्षरब्रह्म के भी अधिष्ठाता पुरुषोत्तम ही हैं'- यह बात बताने के लिए प्रभुचरणों ने **अस्ति गंगायाम् त्रिरूपत्वं** इत्यादि शब्दों से कहा है। गंगा के उन्हीं त्रिप्रकारक रूपों को प्रभुचरणों ने **आधिभौतिकं** इत्यादि शब्दों से बताया है। इनमें से सबसे पहले गंगा का आध्यात्मिकस्वरूप उसका तीर्थरूप है, इस बात का प्रमाण आपश्री ने **योद्धृतजलाविशेषेऽपि** इत्यादि शब्दों से दिया है। इसका आशय यह है कि, जिस प्रकार कोई गंगा के प्रवाहित जल में से लोटा भरकर घर ले आए एवं भले ही श्रद्धापूर्वक उसे गंगाजल से भिन्न न भी माने, तथापि उस लोटे के जल से किया गया स्नान आदि उसे गंगातीर्थ पर किए गए स्नान आदि वाला फल नहीं दिला सकता **अपितु केवल तीर्थस्थान ही दिला सकता है;** ठीक उसी प्रकार यह प्रपञ्च भले ही अक्षरब्रह्म से भिन्न न हो, तथापि केवल इस प्रपञ्च का ही ध्यान करने से मोक्ष आदि की सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकेगी- यह अर्थ है।

तत्र हेतुः पुरुषोत्तमेच्छयैवेत्याहुः मर्यादामार्गसम्बन्धीति । भक्त्यैवेति । यथा गङ्गाधिदैविकरूपं भक्त्यैकदृश्यमेव, तथा पुरुषोत्तमस्वरूपमपीति भावः । भक्तविशेष इति । मर्यादामार्गीयभक्तविशेष इत्यर्थः । तस्यैव भाव उक्तः देवतारूपायां गङ्गायामिति । भगवदभेदबुद्धये भक्तायेति शेषः । यथा जलमिति । जलं दृश्यमानप्रवाहरूपम्, शक्ता पापादिनिवारणे शक्तिरस्यास्तीति शक्ता तीर्थरूपेत्यर्थः । बृहदक्षरम् । देवी आधिदैविकीत्यर्थः । कृष्णः पुरुषोत्तम इत्यर्थः । तत्रापि जगद्रूपे एतदग्रे वक्ष्यमाणमित्यर्थः । तदेवाहुर्जगत्त्विति ।

मोक्ष की सिद्धि उपर्युक्त प्रकारों से नहीं होगी, इस बात का हेतु/कारण तो पुरुषोत्तम की इच्छा ही है- यह बात कहने के लिए प्रभुचरणों ने **मर्यादामार्गसम्बन्धी** इत्यादि शब्दों से कहा है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार मर्यादामार्गीयविधिपूर्वक गंगातीर्थ पर ही स्नान-पूजा इत्यादि करने पर गंगा फल देती है,लोटे में भरकर घर लाए हुए गंगाजल से स्नान आदि करने से नहीं, उसी प्रकार मोक्षप्राप्ति की भी यही विधि है कि, वह अक्षरब्रह्म का भजन करने से ही प्राप्त होगा, प्रपञ्च को अक्षरब्रह्म मानकर प्रपञ्च का ध्यान करने से नहीं। **भक्त्यैव न तु मर्यादामार्गीयविधिनोपासनयेत्यर्थः** इस पंक्ति का अर्थ यह है कि, जिस प्रकार गंगा का आधिदैविकरूप केवल भक्ति से ही दृश्यमान हो सकता है, ठीक उसी प्रकार पुरुषोत्तमस्वरूप भी भक्ति से ही दृश्यमान हो सकता है। **भक्तविशेषे** से आपश्री का तात्पर्य है- मर्यादामार्गीय भक्तविशेष। उसी मर्यादामार्गीयभक्त का भाव प्रभुचरणों ने **देवतारूपायां गंगायां** इस पंक्ति द्वारा कहा है। **भगवदभेदबुद्धये** पद का अर्थ है- भगवत्स्वरूप एवं भगवद्भक्त को भगवान से भिन्न न समझने वाला भक्त। **जलम्** का अर्थ है- गंगा का प्रवाहित होता दिखाई देने वाला जलरूप। **शक्ता** का अर्थ है- जिसमें पाप आदि का निवारण करने की शक्ति है, ऐसा गंगा का तीर्थरूप। **बृहत्** का अर्थ है- अक्षरब्रह्म। **देवी** का अर्थ है- आधिदैविकी देवीरूपा गंगा। **कृष्ण** का अर्थ है- पुरुषोत्तम। **तत्राप्येतद् इह उच्यते** का अर्थ है- गंगा के त्रिप्रकारक रूपों का दृष्टान्त देने के उपरान्त भी इस जगत का गंगास्वरूप से कुछ अंतर है, जिसे आचार्यचरणों ने आगे की कारिका में **जगत्तु** इत्यादि शब्दों से बताया है।

तत इत्येतस्यैवार्थ उक्तो भगवतैव कृता इति । तन्मुक्तिप्रकारं जीवमुक्तिप्रकारमित्यर्थः **। न तु तत्कृतं जीवत्वमिति । यथा मायावादिनामित्यर्थः । व्योम्नि यथेति । यथोपाधिभिः क्षुद्रैश्छिद्रैरल्पत्वादय एव प्रतीयन्ते, न तु व्यापकत्वादयः, तथा जीवेष्वपि न व्यापकत्वानन्दांशप्राकट्यादय इत्यर्थः ।**

मूलश्लोक में कहे **ततः** शब्द की ही व्याख्या प्रभुचरणों ने **भगवतैव कृता इति** इन शब्दों द्वारा की है; जिसमें आपश्री ने **ततः** शब्द का तात्पर्य यह बताया है कि, ब्रह्माविष्णुशिव को भगवान ने ही बनाया है। प्रभुचरणों के **तन्मुक्तिप्रकारं** इन शब्दों का अर्थ है- जीव की मुक्ति का प्रकार; आचार्यचरण इस कारिका में जीव की मुक्ति होने का प्रकार बता रहे हैं। प्रभुचरण **न तु**

---

१. कामनेति पाठः ।

तत्कृतं जीवत्वम् से यह कहना चाह रहे हैं कि, जिस प्रकार से मायावादी यह मानते हैं कि आत्मा/ब्रह्म में जीवत्व की प्रतीति माया के कारण होती है, वैसा हमारे मत में स्वीकृत नहीं है। अब प्रभुचरणों द्वारा **व्योम्नि यथा** इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। प्रभुचरण इस पंक्ति से यह कहना चाह रहे हैं कि, जिस प्रकार छलनी के माध्यम से आकाश को देखने पर आकाश में छोटे छोटे छिद्र होने प्रतीत होते हैं, आकाश की व्यापकता आदि धर्म दिखाई नहीं देते; उसी प्रकार अविद्या के कारण जीवों में भी व्यापकता एवं आनन्दांशता आदि धर्म प्रकटतया दिखाई नहीं देते- यह अर्थ है।

उक्तरूपाणामपि जीवानां भगवान्मर्यादापुष्टिभेदाङ्गीकारेणैव फलं ददाति, नत्वेकेनैव प्रकारेणेति ज्ञापनायाहुः तेषां मध्य इति । तेषां मध्य इत्यारभ्य ज्ञेयमित्यन्तेन ग्रन्थेनोक्ता व्यवस्था केवलमर्यादामार्गीयमर्यादापुष्टिमार्गीयभक्तानामिति ज्ञेयम् । तत्र ब्रह्मावबोधनरूपविज्ञानस्यापेक्षितत्वात् । पुष्टिपुष्टिमार्गे तु नैतदपेक्षेति न तत्सङ्ग्रहः ।

ऊपर कहे अविद्या से ग्रस्त जीवों को भगवान मर्यादा/पुष्टि के भेद के अनुसार ही अंगीकार करके उन्हें फलदान करते हैं, न कि सभी जीवों को एक ही प्रकार से फलदान करते हैं- यह बात बताने के लिए प्रभुचरणों ने **तेषां मध्ये** यह वाली पंक्ति लिखी है। **तेषां मध्ये** से लेकर **ज्ञेयम्** तक की पंक्तियों में प्रभुचरणों ने जो व्यवस्था कही है, वो 'केवलमर्यादाभक्तिमार्गीय' एवं 'मर्यादापुष्टिभक्तों' के लिए कही है- यह समझना चाहिए। हमने ऐसा अर्थ इसलिए किया क्योंकि 'केवलमर्यादामार्गीयभक्त' एवं 'मर्यादापुष्टिभक्त' दोनों को ब्रह्मावबोधन(अक्षरब्रह्मस्वरूप का ज्ञान)होने की आवश्यकता पड़ेगी, यानि उन्हें ब्रह्मावबोधन अपेक्षित होगा; जबकि पुष्टिपुष्टिभक्त की कोटि में आनेवाले भक्तों को तो ब्रह्मावबोधन होने की आवश्यकता ही नहीं है, यानि वे नहीं चाहेंगे; इसलिए प्रभुचरणों की उपर्युक्त पंक्तियों का अर्थ करने में हमने पुष्टिपुष्टिभक्तों को नहीं गिना है। जो केवलमर्यादाभक्तिमार्गीय या मर्यादापुष्टिमार्गीयभक्त होगा, उसके लिए तो जगत का स्वरूप, अक्षरब्रह्म का ज्ञान इत्यादि होने की आवश्यकता होगी और तब जाकर वह परब्रह्मश्रीकृष्ण को सर्वश्रेष्ठ मानकर उनका भजन करेगा। जबकि पुष्टिपुष्टिभक्त इनसे ऊपर की कक्षा में है क्योंकि पुष्टिपुष्टिभक्त का लक्षण तो यह है कि उसे परब्रह्मश्रीकृष्ण के प्रति सहजरूप से स्वाभाविक भक्ति होती है, इसलिए पुष्टिपुष्टिभक्त के संदर्भ में यह अवकाश ही नहीं रहता कि उसके लिए श्रीकृष्ण को परब्रह्मरूपतया श्रेष्ठ सिद्ध करना पड़े और उसमें भक्ति जाग्रत करनी पड़े। पुष्टिपुष्टिभक्त में तो भगवत्कृपा से भगवान के प्रति पहले से ही इतना उत्कट स्नेह होता है कि, उसमें ब्रह्मज्ञान होने के द्वारा स्नेह उत्पन्न कराने की आवश्यकता नहीं पड़ती। केवलमर्यादाभक्तिमार्गीय या मर्यादापुष्टिमार्गीयभक्त की कोटि में आने वाले भक्त प्रयास करते हैं और पुष्टिपुष्टिभक्त को अनायास ही भगवत्स्नेह होता है। चूँकि प्रभुचरणों ने **तेषां मध्ये** से लेकर **ज्ञेयम्** तक की पंक्तियों में भक्त के जो लक्षण कहे हैं, वे लक्षण पुष्टिपुष्टिभक्त से मेल नहीं खाते अपितु 'केवलमर्यादाभक्त' या 'मर्यादापुष्टिभक्त' से मेल खाते हैं, अतः श्रीगोकुलनाथचरणों ने प्रभुचरणों की इस पंक्ति में पुष्टिपुष्टिभक्तों को नहीं लिया है।

पुष्टिभेदेनेत्यत्रापि मर्यादापुष्टिरेवेत्यर्थः । केवलपुष्टस्य भगवत्स्वरूपाज्ञानाभावेन चित्तचाञ्चल्याभावादित्यर्थः । पुष्टिमार्गीय इति । केवलमर्यादामार्गीयत्वाद्विशेष इत्यर्थः । तमेवाहुस्तस्य स्थिताविति ।

प्रभुचरणों के **पुष्टिमर्यादाभेदेन** इन शब्दों में भी 'पुष्टि' शब्द का अर्थ 'मर्यादापुष्टिभक्त' ही है, शुद्धपुष्टिभक्त नहीं; क्योंकि शुद्धपुष्टिभक्त को तो भगवत्स्वरूप के विषय में अज्ञान होता ही नहीं और जिसके कारण चितचञ्चलता भी नहीं होती- यह अर्थ है। इसलिए **पुष्टिमार्गीये विशेषमाहुः अनुग्रह इति** इस पंक्ति में प्रभुचरणों का तात्पर्य पुष्टिमार्गीय की व्यवस्था मर्यादामार्गीयभक्त की तुलना में विशेष बताने से है। पुष्टिमार्गीय के लिए ही आगे श्रीप्रभुचरणों ने **तस्य स्थितौ** यह वाली पंक्ति लिखी है और बताया है कि, उसके लिए कोई भी विधि नियामक नहीं है।

उभयोरित्यस्याभास उक्तो मर्यादास्थावपीति । अयमाशयः । यदि मर्यादापुष्टिमार्गीययोरप्येकमेव फलं स्यात्, तदा मार्गभेदेनाङ्गीकारोनुपपन्नः स्यात्, मूले च साधारण्येनोभयोरपि फलैक्यप्रतिपादनाद्भवति सन्देहः, तस्मादुक्तं यद्युभावपि अनुगृह्णाति, तदोभयोरपि मर्यादांशं त्याजयित्वा केवलपुष्टिमार्गे प्रवेशं कारयित्वा पूर्वोक्तं सेवारूपं फलं प्रयच्छति, तथा नाङ्गीकरोतीति चेत्, तदोभयोरपि मुक्तिमेव ददातीत्येतदेवोक्तं यदीति ।

मूलश्लोक में कहे **उभयोः** इस पद का विवेचन करने के लिए ही प्रभुचरणों ने **मर्यादास्थावपि** इस पंक्ति द्वारा इसका व्याख्यान करना आरम्भ किया है। इसका आशय यह है कि, यदि 'मर्यादामार्गीय' एवं 'पुष्टिमार्गीय' दोनों को एक समान फल ही

मिलना होता, तब तो भगवान द्वारा जीवों को भिन्न-भिन्न मार्ग की पद्धतियों द्वारा अंगीकार करने का ढंग व्यर्थ सिद्ध हो जाता ! परन्तु मूलग्रन्थ(19वां श्लोक)में तो आचार्यचरणों ने मर्यादामार्गीय एवं पुष्टिमार्गीय दोनों को एक ही समान फल प्राप्त होने की बात कही है, अतः मन में सन्देह उत्पन्न होता है कि ऐसा क्यों ? इसलिए प्रभुचरणों ने इसे स्पष्ट करते हुए यों लिखा है कि, यदि भगवान जब 'मर्यादापुष्टिमार्गीय' एवं 'मर्यादामार्गीय' दोनों प्रकार के जीवों पर अनुग्रह करना चाहते हैं, तब इन दोनों प्रकार के जीवों में से मर्यादा के अंश को दूर करके उन्हें केवल पुष्टिमार्ग में प्रविष्ट करा के पूर्व में कहा मानसीसेवारूप फल देते हैं, और यदि भगवान को दोनों को ही पुष्टिमार्गीयपद्धति से अंगीकार करने की इच्छा नहीं होती, तब भगवान दोनों को केवल मुक्ति ही देते हैं- इतनी बात प्रभुचरणों ने **यदि मर्यादायामेवांगीकारः** इत्यादि शब्दों से कही है।

एतेन मर्यादांशत्याजनपूर्वकपुष्टिमार्गेऽङ्गीकार इति स्पष्टमेव ज्ञानमार्गाधिक्यं भक्तिमार्गे । द्वादशेऽध्याये 'येत्वक्षर' मिति 'ये तु सर्वाणि कर्माणी'त्यादिभिरित्यर्थः । ननु ज्ञानभक्त्योः साम्यमेव कुतो नेति चेत् । न । ज्ञानमार्गस्याक्षरपर्यवसायित्वाद्भक्तिमार्गस्य पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वात्तयोः भेदस्य च गङ्गादृष्टान्तेनैव पूर्वमुक्तत्वात्तारतम्येन तत्परयोरपि तारतम्यमिति स्पष्टमेव ज्ञानाधिक्यं भक्तिमार्ग इति । तदेवोक्तं गङ्गायां चेति ।।

इति श्रीपितृपादाब्जपरागारक्त[१]चेतसा ।
श्रीवल्लभेन सिद्धान्तविवृतेर्विवृतिः कृता ।।१।।

इति श्रीगोकुलनाथविरचिता सिद्धान्तमुक्तावलीटिप्पणी समाप्ता ।

इस पूरे विवेचन से यह बात जानने मिलती है कि, मर्यादा-अंश दूर होने के पश्चात् ही पुष्टिमार्ग में अंगीकार होना संभव बनता है अतः ज्ञानमार्ग की तुलना में भक्तिमार्ग की अधिकता स्पष्ट ही मालूम पड़ती है। गीता के द्वादशाध्याय में भी भगवान ने यही बात *"जो निराकार अक्षरब्रह्म की उपासना करते हैं, वे योगी भी अंततोगत्वा मुझे ही प्राप्त करते हैं(भ0 गी- 12/3)"* यहाँ से लेकर *"जो सम्पूर्ण कर्मों को मुझे अर्पण करके मेरे अनन्य भक्तियोग में परायण होकर नित्य-निरन्तर मेरा ही चिन्तन करते हैं, मैं उनका इस जन्म-मृत्युरूप संसारसागर से अतिशीघ्र उद्धार करता हूँ (12/6)"* यहाँ तक के वाक्यों में कही है। किन्तु यहाँ शंका यह होती है कि, जब भगवान 'मर्यादामार्गीयज्ञानी' एवं 'पुष्टिभक्त' दोनों को ही अंगीकार करते हैं और साथ ही साथ आचार्यचरणों ने भी मूलश्लोक में(19वें श्लोक में)दोनों को एक समान ही फल प्राप्त होने की बात कही है, तो फिर ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग को एक समान ही क्यों नहीं मान लिया जाता ! नहीं............ ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग को समान नहीं माना जा सकता क्योंकि ज्ञानमार्ग की पहुँच केवल अक्षरब्रह्म तक ही है जबकि भक्तिमार्ग की पहुँच तो पुरुषोत्तम तक है और साथ ही साथ, अक्षरब्रह्म एवं पुरुषोत्तम के भेद को भी आचार्यचरण गंगादृष्टान्त द्वारा पहले ही स्थापित कर चुके हैं अतः अक्षरब्रह्म एवं पुरुषोत्तम के स्वरूप में अंतर होने के कारण इनका भजन करने वालों को मिलने वाले फल में भी अंतर है ही। इसलिए ज्ञानमार्ग की तुलना में भक्तिमार्ग की अधिकता होनी तो स्पष्ट ही है। यही बात प्रभुचरणों ने **गंगायां च** इस पंक्ति द्वारा कही है।

यह श्रीपितृचरणकमल के पराग से ओतप्रोत चित्त द्वारा श्रीवल्लभ ने सिद्धान्तविवृति की विवृति की। ॥1॥

यह श्रीगोकुलनाथविरचित सिद्धान्तमुक्तावली की टिप्पणी समाप्त हुई।

---

[१] सक्तेति पाठः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तमुक्तावली ।

श्रीमत्कल्याणरायकृतविवृतिटिप्पणी ।

मुक्ताश्रये रत्नविशेषसेव्ये शुकादिवाञ्छये सुमनोधिगम्ये
क्षणं गवेन्द्रस्य पदाम्बुजाते विश्रम्यतां मानसराजहंसः ।।१।।
मायातमोनिराकर्त्रे गोभिः सर्वार्थदर्शिने ।
स्वान्तःस्थाय हरेर्नित्यं द्विजराजाय ते नमः ।।२।।

मुक्तों के आश्रयरूप, विशेष रत्नों से सेवित, शुकदेवजी आदि के द्वारा जिनकी कामना की जाती है, सुन्दर हृदय वाले जिनको प्राप्त करते हैं,
ऐसे गोविन्द के चरणकमलों में मेरा मनरूपी राजहंस तनिक विश्राम करे ॥1॥
मायावाद के तम का निराकरण करने वाले, अपनी किरणों के द्वारा समस्त अर्थों को दिखाने वाले,
नित्य हरि के अन्तःकरण में विराजने वाले हे चन्द्ररूपी आचार्यचरण ! आपको नमस्कार ॥2॥

स्वसिद्धान्तरूपमिति । स्वसिद्धान्तस्य शास्त्रार्थनिश्चयरूपत्वं श्रुतिसिद्धत्वादिति भावः । आवश्यकार्थेति । कृत्याश्चेति सूत्रेणावश्यकाधर्मण्ययोरर्थयोः कृत्यसंज्ञकानां विधानात् कृञोऽप्यावश्यकार्थे ण्यत्प्रत्यय इति भावः । भगवदभजने प्रत्यवायबोधकं महादेववचनं स्कन्दपुराणे श्रूयते ‘स कर्ता सर्वधर्माणां भक्तो यस्तव केशव । स कर्ता सर्वपापानां यो न भक्तस्तवाच्युते’ति ।

प्रभुचरणों द्वारा कहे **स्वसिद्धान्तरूपं** का अर्थ करते हैं। चूँकि आचार्यचरणों का सिद्धान्त शास्त्रार्थ के द्वारा निश्चित किया हुआ सिद्धान्त है, जो कि श्रुति द्वारा सिद्ध है, इसलिए आचार्यचरण शास्त्रार्थ के विषय में होने वाले सन्देहों का अपने मत द्वारा निराकरण कर रहे हैं- ऐसा प्रभुचरणों का आशय है। **आवश्यकार्थ** इस पंक्ति का विवरण करते हैं। कृत्याश्च सूत्र 'आवश्यक' एवं 'अधमर्ण्य(उधार लेने वाला)' इन दो अर्थों में कृत्यसंज्ञक प्रत्ययों का विधान करता है, अतः इसके अनुसार 'कृ' धातु से भी आवश्यक अर्थ में ण्यत्-प्रत्यय होकर 'कार्या' पद बनता है- यह भाव है(**इससे यह बोध कराना चाह रहे हैं कि,श्रीकृष्णसेवा करनी आवश्यक है**)। भगवद्भजन न करने पर दोष लगता है, इसका बोध कराने वाला वाक्य स्कन्दपुराण में महादेवजी के "*हे केशव! जो आपका भक्त है, वह समस्त धर्मों को करने वाला है और जो आपका भक्त नहीं वह समस्त पापों को करने वाला है*" इन वचनों द्वारा उपलब्ध होता है, इसलिए प्रभुचरणों ने भगवत्सेवा की आवश्यकता बतायी है एवं न करने पर दोष लगना बताया है।

तन्निवृत्त्येति । अहन्ताममतात्मकसंसारसम्बन्धिदुःखस्य निवृत्त्या । भक्तानां भगवद्भजनोपयोग्यहन्ताममतात्मकसंसारस्योपादेयत्वादित्यर्थः । तथोक्तं ब्रह्मादिभिर्गर्भस्तुतौ ‘त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नी’ति श्लोके ।

प्रभुचरणों द्वारा कहे **तन्निवृत्या** का अर्थ है- अहन्ताममतात्मक संसारसम्बन्धी दुःखों के निवृत्त होने पर, यानि तनुवित्तजासेवा करने से अहन्ताममतात्मक संसारसम्बन्धी दुःखों की निवृत्ति हो जाने के द्वारा आचार्यचरणों ने सेवा में आने वाले अनिष्ट की निवृत्ति होनी बतायी है। संसारसम्बन्धी अहन्ताममतात्मक दुःखों की निवृत्ति इसलिए क्योंकि भगवद्भजनोपयोगी अहन्ताममतात्मक संसार तो भक्तों के लिए उपादेय होता है(जिस अहन्ताममता का विनियोग भगवान में होता है, वो अहन्ताममता भक्तों के लिए उपयोगी है। उदाहरण के रूप में पत्नी, पुत्र, घर इत्यादि में अहन्ताममता रहती है परन्तु यदि इनका विनियोग भगवत्सेवा में किया जाय तो ऐसी अहन्ताममता भगवद्भक्तों के लिए उपादेय होती है क्योंकि ऐसा संसार उसकी भगवत्सेवा इत्यादि में उपयोगी सिद्ध होता है)। यह बात ब्रह्मा आदि देवताओं ने गर्भस्तुति के प्रसंग में "*त्वय्यम्बुजाक्षाखिल(श्री0भा-10/2/30)*" इस श्लोक द्वारा कही है।

कृष्णशब्देनैवेति । ‘कृषिर्भूवाचकः शब्दः’ ‘कृष्णस्तु भगवान् स्वय’मित्यादिवाक्यैः कृष्णशब्दस्य

पुरुषोत्तमवाचकत्वादिति भावः । ज्ञान्युपास्यत्वं तन्मुक्तिस्थानत्वं च 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते' 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' इत्यादिभिर्ज्ञेयम् । अत्रेति । अक्षरप्रपञ्चयोरित्यर्थः । उभयोरिति । प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वे सिद्धे विरुद्धयोर्धर्मयोरक्षरब्रह्मणि प्रमाणसिद्धत्वेन सहानवस्थानलक्षणविरोधाभावादित्यर्थः । विरोधपरिहारायेति । ब्रह्मात्मकत्वे प्रपञ्चस्योच्यमाने मायावादादिभिर्विरोधः स्यात्तत्परिहाराय श्रुतिसिद्धं स्वसिद्धान्तं वक्तुं पूर्वपक्षत्वेन परमतान्याहुरित्यर्थः । अपरमित्येकवचनमेकवदेव तेषां मतानां निराकरणीयत्वेन तुच्छत्वबोधनार्थम् ।

प्रभुचरणों की **कृष्णशब्देनैव** इत्यादि पंक्तियों का अर्थ यह है कि,"*कृषिर्भूवाचकः शब्दः(गो0ता0उप0)*" , "*कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्(श्री0भा-1/3/28)*" इत्यादि वाक्यों के अनुसार चूँकि 'कृष्ण' शब्द पुरुषोत्तम का वाचक है अतः आचार्यचरणों ने कृष्ण पद का प्रयोग किया है, तो इसके द्वारा आपश्री ने पुरुषोत्तमस्वरूप ही निरूपित किया है। जहाँ तक ज्ञानियों के उपास्य एवं उनकी मुक्ति के स्थानरूपी अक्षरब्रह्म के स्वरूप का प्रश्न है, तो उसे "*ये त्वक्षरं(भ0गी-12/3)*","*यदक्षरं वेदविदो(भ0गी-8/11)*" इत्यादि वाक्यों द्वारा समझना चाहिए। **अत्र** वाली पंक्ति का अर्थ है- अक्षरब्रह्म एवं प्रपंच में जो भेद है, उसे बता रहे हैं। **उभयोः** इस पंक्ति का अर्थ है- जब प्रपंच को अक्षरब्रह्मात्मक सिद्ध कर दिया गया तो फिर अक्षरब्रह्म में विरुद्धधर्म होने प्रमाणसिद्ध हो गए इसलिए अक्षरब्रह्म में एक साथ दो विरुद्धधर्म होने का दोष लागू नहीं पड़ता अर्थात् जब अक्षरब्रह्म के लिए यह कह दिया गया कि अक्षरब्रह्म ही जगतरूप में परिणित हो जाता है और इसके अतिरिक्त भी उसका स्वतन्त्रतया एक रूप है, तो फिर अक्षरब्रह्म में विरुद्धधर्म होने की बात प्रमाणित हो जाती है। **विरोधपरिहाराय** इस पंक्ति का अर्थ है- हम जब प्रपंच को ब्रह्मात्मक कहेंगे, तो मायावाद इत्यादि अन्य वादों से विरोध आयेगा अतः इस विरोध का परिहार करने के लिए अपने श्रुतिसिद्धसिद्धान्त को बताने के हेतु से पहले पूर्वपक्ष के तौर पर आचार्यचरण परमतों को कह रहे हैं- यह अर्थ है। आचार्यचरणों ने दूसरों के मत को **अपरं** यों एकवचन में कहा है, जिसके द्वारा आपश्री ने अन्य सभी मतों का एक बार में और एक ही साथ निराकरण करने के द्वारा उनकी तुच्छता का बोध कराया है।

मूले सेवतामित्यत्रानुदात्तेतां धातूनामात्मनेपदानित्यत्वात्साधुत्वम् । मूर्तिरिति । देहवतीत्यर्थः । भक्तविशेष इति । प्रेमवति भक्त इत्यर्थः । तत्र भगवदभेदबुद्धय इति । तत्र भगवदाकारे भगवद्भक्ते च साक्षाद्भगवानयं मामनेन रूपेणानुगृह्णाति इति बुद्ध्या यो भजते तत्र भगवत्प्राकट्येन तस्य यथोक्तं भजनफलं भवति । 'तं यथा यथोपासते तथैव भवती'ति श्रुतेः । यस्तु नायं भगवान्, किन्तु भगवत्प्रतिमेयमिति बुद्ध्या भजते, तस्य भजनं भस्महोमतुल्यं भवति । अनेनैवाभिप्रायेण कपिलदेवैर्देवहूतिं प्रत्युक्तं 'यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् । हित्वाऽर्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति स'इति ।

मूलकारिका में आचार्यचरणों ने 'सेवताम्' पद दिया है; यों तो 'सेवताम्' पद के स्थान पर शानच् प्रत्यययुक्त 'सेवमानानाम्' शब्द होना चाहिए था, परन्तु चूँकि अनुदात्तेत्वलक्षण आत्मनेपद अनित्य होता है, अर्थात् सर्वत्र लागू होना अनिवार्य नहीं होता अतः शानच् प्रत्यय के स्थान पर शतृ-प्रत्यय करके 'सेवताम्' शब्द बना लिया गया है, जो उचित ही है। **मूर्तिरिति** का अर्थ है- देहवती गंगा। **भक्तविशेषे विशेषमाहुः** इस पंक्ति का अर्थ है- अपने हृदय में गंगा के प्रति प्रेम रखने वाले विशेषभक्त को ही यत्र तत्र जहाँ वह चाहे, उसे गंगा के दर्शन हो सकते हैं। **तत्र भगवदभेदबुद्धये** इस पंक्ति का अर्थ है- इस प्रपंच में भगवत्स्वरूप या भगवद्भक्त में "*ये ही साक्षात् भगवान हैं एवं मुझ पर इस रूप द्वारा अनुग्रह कर रहे हैं*"- ऐसी बुद्धि रखते हुए जो इनका भजन करता है, उसके लिए वहीं पर भगवत्प्राकट्य हो जाता है अतः भगवद्दर्शन होने का जो फल प्राप्त होता है, उसे वैसा भजनफल प्राप्त हो जाता है, जो बात "*तं यथा यथोपासते(मुद्गलो-3)*" इस श्रुति में भी बतायी गयी है। किन्तु जो "*यह भगवान नहीं है अपितु भगवान की प्रतिमा है*"- इस प्रकार की बुद्धि रखते हुए भजन करता है, उसका भजन भस्म में किए हुए होम की भाँति व्यर्थ हो जाता है। इसी अभिप्राय से कपिलदेवजी ने माता देवहूति के प्रति "*यो मां सर्वेषु (श्री0भा-3/29/22)*" यह वाक्य कहा है।

अत्र सगुणभक्तस्य भेदबुद्धिर्निन्द्यते, न तु प्रतिमादिषु भजनम् । तथा सत्येकादशे श्रीकृष्णोक्तमुद्धवं प्रति प्रतिमादिषु स्वार्चनं विरुध्येत । अस्यार्थः । अहं सर्वत्र तत्तद्रूपः आत्मरूप ईश्वरोन्तर्यामि नियामकश्च वर्ते । एवं सर्वभावेन विद्यमानं भगवन्तं मां हित्वा उपेक्ष्य त्यक्त्वाऽर्चां प्रतिमां यो भजते स भस्मन्येव जुहोति । एतादृशभजने मौढ्यमेव हेतुः, नत्वेवं बोधकं प्रमाणमस्ति ।

किन्तु यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि उपर्युक्त वाक्य में कपिलदेवजी ने सगुणभक्त की भेदबुद्धि की निन्दा की है, प्रतिमा आदि के भजन की निन्दा नहीं। सगुणभक्त उसे कहा जाता है जो साकारब्रह्म या प्रतिमा का भजन करता है। निर्गुणभक्त उसे कहा जाता है, जो निराकारब्रह्म की उपासना या ध्यान करता है। उक्त श्रीभागवतवाक्य में कपिलदेवजी ने सगुणभक्त की भेदबुद्धि की निन्दा की है जिसके संदर्भ में श्रीकल्याणरायचरण यह स्पष्टता कर रहे हैं कि कपिलदेवजी ने यदि सगुणभक्त की भेदबुद्धि की निन्दा की है, तो इसका ये तात्पर्य नहीं है कि, वे प्रतिमाभजन की निन्दा कर रहे हैं अपितु कपिलदेवजी ने उन सगुणभक्तों की भेदबुद्धि की निन्दा की है जो केवल प्रतिमा में ही भगवान को देख पाते हैं और प्रतिमा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी भगवान को नहीं देख पाते या अनुभूत नहीं कर पाते। यद्यपि वे जानते होते हैं कि, भगवान तो सर्वत्र हैं परन्तु उनका भाव इतना दृढ़ नहीं बना होता कि वे प्रतिमा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भगवदनुभूति कर पाएँ। इसलिए ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि कपिलजी ने स्वरूपसेवा की निन्दा की है- यह अर्थ है। यदि कपिलदेवजी के उक्त वाक्य का तात्पर्य प्रतिमाभजन की निन्दा करने में होता, तो एकादशस्कन्ध में जहाँ श्रीकृष्ण ने उद्धवजी को प्रतिमा आदि के माध्यम से अपना अर्चन करने का उपदेश दिया है, तो कपिलदेवजी की बात इससे विरुद्ध जाने की आपत्ति आती ! कपिलजी के उपर्युक्त वाक्य(श्री0भा-3/29/22)का तात्पर्य यह है कि- *मैं सबकी आत्मा, परमेश्वर और सभी में स्थित हूँ। ऐसे में जो मोहवश मेरी उपेक्षा करके केवल प्रतिमाभजन में ही लगा हुआ है, वह तो मानों भस्म में ही होम कर रहा है।* केवल प्रतिमा में ही भगवान हैं- ऐसा समझने में भक्त की मूर्खता ही हेतु है क्योंकि इसप्रकारक बोध कराने वाला प्रमाण कहीं भी नहीं है।

प्राकाम्यमिति । प्रकर्षेणासमन्तात्काम्यं स्यात् सिध्येदित्यर्थः । दार्ष्टान्तिकेऽपि ज्ञातव्यम् ।

प्राकाम्यं(प्र+आ+काम्यं)इस वाली पंक्ति का अर्थ है- जिस प्रकार एक बार देवीरूपा गंगा का दर्शन कर लेने के पश्चात् भक्त गंगा के जल को भी विशिष्ट समझकर उसे भी गंगारूप ही मानने लगता है और उसे सामान्यजल न समझते हुए विशेष श्रद्धापूर्वक स्नान आदि व्यवहार करने लगता है, निषिद्धव्यवहार नहीं करता; ठीक उसी प्रकार दार्ष्टान्त-परब्रह्म के दर्शन हो जाने के पश्चात् भक्त की भी इस प्रपञ्च/जगत के प्रति दृष्टि परिवर्तित हो जाती है और वह इसे परब्रह्म के आधिभौतिकस्वरूप से देखने लगता है।

अत एवेति । यतो भगवत्प्रतिमाभक्तस्थानेषु भगवत्सान्निध्यमस्ति, ततस्तद्दर्शनस्पर्शनार्चनानि भगवता एकादशस्कन्धे एकादशाध्याये 'मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चन'मित्यनेन भक्तिकारणत्वेनोक्तानीत्यर्थः । **यथा जलमिति** मूलम् । **शक्ता** पापनिवारणादौ समर्था । **आध्यात्मिकी** तीर्थरूपा । **बृहत्** अक्षरम् । **देवी** मूर्तिमती । आधिदैविकी गङ्गा । **इह** गङ्गायाम्, **तत्रापि** भगवत्स्वरूपेऽपि, एतत्त्रैविध्यमुच्यत इत्यर्थः । **तद्गुणनियामकत्वेनेति** । जगद्गुणनियामकत्वेन भगवतैव ब्रह्मादयोऽधिकृता इत्यर्थः । एतदुक्तं नारदीयपुराणे 'यस्याज्ञया जगत्सर्वं ब्रह्मा सृजति नित्यशः । विष्णुश्च पालको नित्यं रुद्रः संहारकस्तथा' इति । तेन केवलं प्रपञ्चासक्तानां ब्रह्मादय एव नियामका निग्रहानुग्रहकर्तार इत्यर्थः । **ब्रह्मैकरूपमिति** । ब्रह्माक्षरं तस्य गुणातीतत्वेनैकरूपत्वाच्चरणरूपत्वाच्चाक्षरोपासकानां निग्रहानुग्रहकर्ता फलदाता हरिरेवेत्यर्थः । **ये त्विति** । भगवद्भक्तानां निग्रहानुग्रहकर्ता फलदाता श्रीकृष्ण एव, नतु ब्रह्मादयः, कालः, कर्म वा । एतेषां मनोरथपूर्तिः श्रीकृष्णादेव । यतस्ते नाल्पेच्छवः, **अतः** परमानन्दरूपात् । परमानन्ददायकात् पूर्णानन्दात् पुरुषोत्तमात् कृष्णादेवेष्टसिद्धिरित्यर्थः । अत एव कपिलदेववचनम् 'न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नंक्ष्यन्ति नोऽनिमिषो लेढि हेति'रिति । षष्ठे तृतीयाध्याये यमवचनं 'नैषां वयं नच वयः प्रभवाम दण्ड' इति ।

अतएव इत्यादि शब्दों का अर्थ है- चूँकि भगवत्प्रतिमा एवं भगवद्भक्तों में भगवत्सान्निध्य होता है अतः भगवान ने एकादशस्कन्ध के एकादशाध्याय में *"मेरे चिन्हों अथवा मेरे भक्तजनों का दर्शन, स्पर्श एवं अर्चन करने से भक्ति उत्पन्न होती है(श्री0भा-11/11/34)"* इस वाक्य द्वारा इनके दर्शन-स्पर्श-अर्चन आदि करने को भक्ति उत्पन्न होने में कारणभूत बताया है। **यथा जलम्** इन मूलग्रन्थ के शब्दों के अन्तर्गत **शक्ता** का अर्थ है- गंगातीर्थ पापनिवारण करने आदि में समर्थ है, जिसे प्रभुचरणों ने अपनी व्याख्या में **आध्यात्मिकी तीर्थरूपा** गंगा कहा है। **बृहत्** का अर्थ है- अक्षरब्रह्म। **देवी** का अर्थ है- मूर्तिमती गंगा, यानि कि आधिदैविकी गंगा। **इह** का अर्थ है- गंगा में। **तत्रापि** का अर्थ है- जिस प्रकार आचार्यचरणों ने गंगा के तीन स्वरूप बताए, उसी प्रकार भगवत्स्वरूप के भी तीन स्वरूप कह रहे हैं। प्रभुचरणों की **तद्गुणनियामकत्वेन** इस

पंक्ति का अर्थ है- ब्रह्माशिवविष्णु जगत के सत्वरजतम इन तीन गुणों के नियामक हैं अतः भगवान ने ही ब्रह्माशिवविष्णु को जगत का संचालन करने के लिए अधिकृत किया है, नियुक्त किया है। यह बात नारदीयपुराण में *"यस्याज्ञया जगत्सर्वं ब्रह्मा सृजति"* इस वाक्य द्वारा कही गयी है। इस पुराणवाक्य द्वारा यह बात सिद्ध होती है कि, जो केवल प्रपंच में आसक्त हैं, उनके नियामक यानि उन पर अनुग्रह या उन पर नियन्त्रण रखने वाले ब्रह्मा आदि देवता ही हैं। **ब्रह्मैकरूपम्** पद में ब्रह्म का अर्थ है- अक्षरब्रह्म; यानि जगत तो ऊपर कहे अनुसार त्रिप्रकारक है परन्तु अक्षरब्रह्म तो इन गुणों से ऊपर है अतः गुणातीत होने के नाते एक ही रूप वाला है(इसका अर्थ यह है कि, अक्षरब्रह्म से प्रकट हुए जगत के तो सत्वरजतम यों तीन रूप हैं परन्तु स्वयं अक्षरब्रह्म का तो एक ही रूप है, उसमें त्रिविधता नहीं है)और अक्षरब्रह्म भगवान पुरुषोत्तम का चरणरूप भी है अतः इससे सिद्ध यही होता है कि अक्षरब्रह्म के उपासकों पर नियन्त्रण करने वाले या अनुग्रह करने वाले फलदाता हरि ही हैं- यह अर्थ है। **ये तु** इस पंक्ति का अर्थ है- जो भगवद्भक्त हैं उन पर नियन्त्रण करने वाले या उन पर अनुग्रह करने वाले फलदाता कृष्ण ही हैं, ब्रह्मादि देवता काल या कर्म नहीं। भगवद्भक्तों के मनोरथ श्रीकृष्ण से ही पूर्ण हो सकते हैं क्योंकि भगवद्भक्त उन तुच्छ वस्तुओं की इच्छा नहीं रखते जो ये देवता देते हैं, अतः परमानन्दरूप होने के कारण, अर्थात् परमानन्द देते होने के कारण, पूर्णानन्द होने के कारण, पुरुषोत्तम होने के कारण कृष्ण से ही भगवद्भक्तों को इष्टसिद्धि प्राप्त हो सकती है- यह अर्थ है। इसी कारण कपिलदेवजी के भी *"न कर्हिचिन्मत्पराः(श्री0भा-3/25/38)"* इसप्रकारक वाक्य उपलब्ध होते हैं। षष्ठस्कन्ध के तीसरे अध्याय में यमराज के भी *"नैषां वयं नच(श्री0भा-6/3/27)"* इसप्रकारक वचन उपलब्ध होते हैं।

पदयोजनिका त्वेवम् । जगत्तु त्रिगुणात्मकत्वेन त्रिविधं प्रोक्तम् । ततो हेतोर्ब्रह्मविष्णुशिवा जगतो देवता अधिष्ठातारः प्रोक्ताः । रूपवज्जगद्वत्रिगुणयुक्ताः नियामकत्वेन तत्तद्गुणयुक्तत्वमेवैतेषाम्, न तु गुणाधीनत्वम्, अन्यसाधारण्यापत्तेः । एतेषां भगवदंशत्वेन गुणावतारत्वेनान्येभ्यो विशिष्टत्वात् । ब्रह्मण्यक्षरविषये इत्थमधिष्ठातृत्वेन नियामकत्वेन च हरिः पुरुषोत्तमो मतः संमत इत्यर्थः । अस्मिँल्लोके भक्तजने हरिरेव नियामकः ।

अब **जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं** इस मूलकारिका के पदों को इस प्रकार से योजित करना चाहिए- जगत चूँकि सत्वरजतम यों त्रिगुणात्मक है अतः त्रिप्रकारक कहा गया है। इसलिए ब्रह्माविष्णुशिव जगत के अधिष्ठाता देवता कहे जाते हैं। मूलकारिका में **रूपवत्** का अर्थ है- जगत्वत्; इसका अर्थ ये हुआ कि, परिदृश्यमान त्रिगुणात्मक जगत की भाँति इसके नियामक होने के कारण उन-उन गुणों से युक्त इसके देवता भी तीन हैं; किन्तु जिस प्रकार जीव इन गुणों के अधीन होते हैं, वैसे ये देवता इन गुणों के अधीन नहीं हैं अपितु उन गुणों के अधिष्ठाता हैं क्योंकि यदि इन देवताओं को भी गुणों के अधीन मान लिया जाय, तो फिर इन्हें और अन्य साधारणजीवों को एक कोटि में मान लेने की आपत्ति आ पड़ेगी क्योंकि ये देवता तो भगवान के अंश होने के नाते भगवान के गुणावतार हैं एवं अन्य साधारणजीवों की तुलना में विशिष्ट हैं। **ब्रह्मणि** अर्थात् अक्षरब्रह्म के विषय में **इत्थम्** उक्तप्रकारक अधिष्ठाता या नियामक के रूप में **हरिः** यानि पुरुषोत्तम ही **मतः** माने गए हैं- यह अर्थ है। **तु** शब्द से ज्ञात होता है कि, इस लोक में भक्तजनों के नियामक तो हरि ही हैं।

तु पुनः भक्तजने ब्रह्मादिभ्यः कामचारश्चरधातोर्गत्यर्थत्वेन प्राप्त्यर्थत्वाद्वाञ्छितार्थप्राप्तिर्न । च पुनरन्यथा कालकर्मादिभ्योपि न, किन्तु परमानन्दरूपे कृष्णे स्वात्मनि स्वात्मत्वेन स्फुरिते स्वात्मवत् प्रिये सति वा कामचार इति निश्चयः । अतः कारणात्तु पुनस्तुशब्दः प्रकारान्तरव्युदासार्थः । ब्रह्मवादेन प्रकारेण श्रीकृष्णो मूलभूतः पुरुषोत्तमोऽक्षरं तत्पदं तस्मात्प्रपञ्चः समुद्रात्तरङ्गवत् श्रीकृष्ण एव स्वेच्छया सर्वं करोति, सर्वरूपश्च भवति, तस्मादेव सर्वं प्राप्यते इति ब्रह्मवादप्रकारः । अनेन कृष्णे सदानन्दे बुद्धिर्विधीयतां निवेश्यतामित्यर्थः । **छिद्रा व्योम्नीति** । व्योम्नि यथा क्षुद्रैरुपाधिभिः छिद्रप्रदेशाः प्रतीयन्ते, तथाऽविद्यातद्धर्मैरक्षरे चेतना अपि प्रतीयन्त इत्यर्थः ।

परमानन्दरूपे तु में प्रयुक्त **तु** शब्द से यह ज्ञात होता है कि, भक्तजनों की कामनापूर्ति ब्रह्मादि देवताओं से नहीं होती। **कामचारः** शब्द में 'चर' धातु का प्रयोग है, जो कि गति अर्थ में प्रयुक्त होती है; और गति-अर्थ चूँकि प्राप्ति-अर्थ में होता है अतः **कामचारः** का अर्थ हुआ- वांछित अर्थ की प्राप्ति होनी; अर्थात् भक्तजनों का कामचार यानि उनको वांछित अर्थ की प्राप्ति श्रीकृष्ण से ही होती है। 'च' शब्द से आचार्यचरणों ने यह बोध कराया है कि, भक्तजनों की कामनापूर्ति काल-कर्म आदि के द्वारा भी नहीं होती किन्तु अपनी आत्मारूप से स्फुरित होने वाले परमानन्दरूप श्रीकृष्ण से ही अथवा तो अपनी

आत्मा की भाँति प्रिय श्रीकृष्ण से ही होती है- यह ऊपर कहे सभी विवेचनों द्वारा निश्चय होता है। इसी कारण आचार्यचरणों ने **अतस्तु** में जो पुनः **तु** शब्द का प्रयोग किया है, वह अन्य दूसरे प्रकारों को छोड़कर केवल ब्रह्मवाद के अनुसार कृष्ण में बुद्धि लगाने को कहने के लिए प्रयोग किया है। ब्रह्मवाद का प्रकार यह है कि, श्रीकृष्ण ही मूलभूत पुरुषोत्तम हैं, अक्षरब्रह्म उनका चरणरूप है, अक्षरब्रह्म द्वारा प्रपंच उसी प्रकार से बना है, जिस प्रकार से समुद्र में से तरंगे निकलती हैं। इस प्रपंच में श्रीकृष्ण ही अपनी इच्छा से सभी कुछ करते हैं, वे ही सभी रूपों में परिणित हो जाते हैं एवं श्रीकृष्ण से ही सभी कुछ प्राप्त होता है। इन सभी कारणों से सदानन्दश्रीकृष्ण में ही बुद्धि लगानी चाहिए- यह अर्थ है। **छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः** इत्यादि शब्दों का अर्थ है- जिस प्रकार आकाश को क्षुद्र छलनी से देखने पर आकाश में अनेक छिद्र होने प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार अविद्या एवं अविद्या के धर्मों के कारण अक्षरब्रह्म में **चेतनाः**(जीवात्माएँ अथवा अन्यथाबुद्धि)प्रतीत होती हैं।

उपाधिनाश इति सार्धश्लोकेन ज्ञानिभक्तावस्थोक्ता । भजनप्रकारमाहुः तस्मादिति । भक्तिमार्गीयो भूत्वा भजने लोकानुरोधं त्यक्त्वा बाललीलादिषु यैव लीला स्वस्यात्यन्तं रोचते तल्लीलासहितं कृष्णमेव, नत्ववतारान्तरमपि विशेषेण चिन्तयेदित्यर्थः । तदभावे बाधकमाहुः लोकार्थी चेदिति । मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्ताविति । अत्र ज्ञानी कर्ममार्गस्थो ज्ञेयो, भक्तो मर्यादाङ्गीकारवान् ज्ञेयः । तदोभयोरिति । ज्ञानिनोऽक्षरसायुज्यम्, अत्र भक्तस्य पुरुषोत्तमसायुज्यमित्यर्थः । भक्त्यभाव इति । स्नेहमाहात्म्यज्ञानयोरभाव इत्यर्थः ।

श्रीमदाचार्यसिद्धान्तमुक्तावल्याः प्रणम्य तान् ।
श्रीमत्कल्याणरायेण टिप्पणी विवृतेः कृता ।।१।।
इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरचरणकमलैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता
सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिटिप्पणी समाप्ता ।

आचार्यचरणों ने **उपाधिनाशे** इस डेढ़श्लोक द्वारा ज्ञानीभक्त की अवस्था बतायी है। अब कृष्णभजन किस प्रकार करना चाहिए, यह आचार्यचरण **तस्मात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह कि भक्तिमार्गीय होकर, भजन करने में लोक की चिन्ता छोड़कर, बाललीलाओं में से जो भी लीला खुद को अत्यन्त रुचिकर लगे, उस लीलासहित कृष्ण का ही विशेषरूप से चिन्तन करना चाहिए, अन्य अवतारों का नहीं- यह भाव है। यदि ऐसा भाव नहीं रखेंगे और किसी अन्य हेतु से कृष्णभजन करेंगे तो उसमें बाधक होगा, जिसे आचार्यचरणों ने **लोकार्थी चेत्** इत्यादि शब्दों से कहा है। प्रभुचरणों के **मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्तौ** इस पंक्ति के अंतर्गत **ज्ञानी** का अर्थ कर्ममार्गीयज्ञानी समझना चाहिए एवं **भक्त** का अर्थ मर्यादामार्गीयभक्त समझना चाहिए। **तदोभयोर्मुक्तिरेव फलिष्यति** इस पंक्ति का अर्थ है= ज्ञानी की मुक्ति से आपश्री का तात्पर्य है- अक्षरब्रह्म में सायुज्य एवं भक्त की मुक्ति से आपश्री का तात्पर्य है- पुरुषोत्तम में सायुज्य। आचार्यचरणों के **भक्त्यभावे** इस कारिका का अर्थ है- यदि भगवान के प्रति स्नेह एवं उनका माहात्म्यज्ञान उत्पन्न न हुआ हो, तो भले ही कोई गंगातीर पर भी क्यों न रहे, तथापि अपने दुष्टकर्मों द्वारा अन्यथाभाव को प्राप्त हो जाता है एवं अपने स्थान से भी गिर जाता है।

इस प्रकार से श्रीमदाचार्यचरणों को प्रणाम करके
उनकी सिद्धान्तमुक्तावली की टिप्पणी की विवृति कल्याणराय ने की।

यह श्रीमद्विट्ठलेश्वरचरणकमल में एकनिष्ठ श्रीकल्याणराय द्वारा विरचित सिद्धान्तमुक्तावली की विवृति पर की गयी टिप्पणी समाप्त हुई।

श्रीकृष्णाय नमः ।

सिद्धान्तमुक्तावली ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशः ।

प्रणम्य श्रीमदाचार्यान् प्रभून् श्रीविट्ठलेश्वरान् ।
तत्कृपातो यथाबुद्धि तदुक्तीर्विवृणोत्ययम् ।।१।।

अथ यच्छ्रीमदाचार्यचरणैर्भगवत्प्राप्त्यर्थं निबन्धे वैदिकमार्गभक्तिमार्गौ निरूपितौ, निरोधसुबोधिन्यां च स्वतन्त्रभक्तिमार्गो निरूपितः, तत्किं तदर्थं तेषां विकल्पप्राधान्याय, आहोस्विदेकतरमुख्यत्वायेति स्वीयानां संशयस्य तत्प्रसङ्गानुप्रसङ्गपतितानां सेवास्वरूपतदधिकारादिविषयाणां संशयान्तराणां चोद्भवमवेक्ष्य तन्निवारणाय स्वसिद्धान्तनिष्कर्षं सिद्धान्तमुक्तावलीग्रन्थे श्रीमदाचार्यचरणाः संक्षेपेण प्रकाशितवन्तः । तस्य ग्रन्थस्य दुर्ज्ञेयत्वमालोच्य श्रीमत्प्रभुचरणास्तद्विवरीतुं प्रकृतोपयोगि मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थमुपनिबध्नन्तो विवरणं प्रतिजानते **प्रणम्येत्यादि** । अत्रानुरागतः प्रणामोक्त्या एतद्ग्रन्थार्थावबोधेपि तस्यैव विघ्नविघातकत्वेन प्रकृतोपयोगित्वं द्योतितम् । **कृपयेति** । श्रीमदाचार्यकृपया । स्वीयोपरि स्वकृपया वा ।

श्रीमदाचार्यचरणों एवं प्रभुश्रीविट्ठलेश्वर को प्रणाम करके
उन्होंने जो कहा, उसका मैं यथाबुद्धि विवरण कर रहा हूँ॥1॥

श्रीमदाचार्यचरणों ने भगवत्प्राप्ति के लिए निबन्ध में वैदिकमार्ग एवं भक्तिमार्ग का निरूपण किया है, जबकि दशमस्कन्धनिरोध की सुबोधिनी में स्वतन्त्रभक्तिमार्ग(पुष्टिभक्तिमार्ग)का निरूपण किया है। तो इसप्रकारक निरूपण क्या आपश्री ने इनमें से स्वेच्छया कोई भी एक विकल्प को चुनने के लिए किया है अथवा तो इनमें से किसी एक को ही मुख्यरूप से चुनने के लिए किया है ! जब ऐसा सन्देह स्वीयजनों को होता है, तब प्रसंगानुपात सेवास्वरूप क्या है, उसके अधिकारी कौन हो सकते हैं इत्यादि विषयों के प्रति होने वाले अन्य संशय भी उत्पन्न होते देखकर, उन सभी सन्देहों का निवारण करने के लिए अपने सिद्धान्त का निष्कर्ष आचार्यचरणों ने सिद्धान्तमुक्तावलीग्रन्थ में संक्षिप्तरूप से प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ की दुर्ज्ञेयता को देखकर श्रीमत्प्रभुचरणों ने इसका विवरण करने हेतु प्रकृतोपयोगी मंगलाचरण किया है ताकि शिष्यों को भी आरम्भ में ही मंगलाचरण करने की शिक्षा मिल सके और इसका विवरण करने की प्रतिज्ञा आपश्री ने **प्रणम्य** इत्यादि शब्दों से की है। प्रभुचरणों ने अपने मंगलाचरण में आचार्यचरणों को अनुरागपूर्वक प्रणाम किया है,जिसके लिए सामान्यतया यह माना जाता है कि, जब तक ग्रन्थकार की कृपा नहीं होगी, तब तक ग्रन्थ का अवबोध नहीं होगा, इस कारण विवरण लिखने से पूर्व ग्रन्थकार को प्रणाम किया जाता है; परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है कि प्रभुचरणों को इस ग्रन्थ का बोध नहीं है अपितु आपश्री को इस ग्रन्थ का पूर्णतया बोध है ही, तथापि आचार्यचरणों को आरम्भ में किया गया प्रणाम ही विघ्नों का विघातक है और इस कारण प्रकृत विवरण लिखने में उपयोगी भी है, इस दृष्टि से आपश्री ने आरम्भ में आचार्यचरणों को प्रणाम करके विवरण लिखना आरम्भ किया है- यह समझना चाहिए। **कृपया** पद से आपश्री का अभिप्राय है- आचार्यचरणों की कृपा से आपश्री विवरण लिख रहे हैं अथवा तो स्वयं आपश्री ही स्वीयजनों पर कृपा करके इसका विवरण लिख रहे हैं।

अतःपरं मूलं विवरणीयम् । तत्रापि **नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामी**तिमङ्गलघटितमेव प्रतिज्ञावाक्यम् । तत्रानुबन्धचतुष्टयं यद्यपि वक्तव्यम्, तथापि तत्र **स्वसिद्धान्तविनिश्चयमिति**पदेन विषयस्योक्तत्वात् विषयविशेषणीभूतेन स्वपदेनैव श्रीमदाचार्यचरणानुरक्तस्य तत्सिद्धान्तजिज्ञासोरधिकारिणोपि लाभाद्विषयोक्त्यैव प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावस्य सम्बन्धस्यापि लाभात्प्रयोजनमेवानुक्तत्वादस्फुटमवशिष्यते । तदप्युपसंहारवाक्ये 'एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशया'दित्यनेन वक्ष्यते ।

अब हम मूलग्रन्थ का विवरण करना आरम्भ करते हैं। आचार्यचरणों का **नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि** यह प्रथमश्लोक में कहा मंगलाचरण ही प्रतिज्ञावाक्य भी है अर्थात् **नत्वा हरिं** ये पद तो मंगलाचरण हैं और **स्वसिद्धान्त प्रवक्ष्यामि** ये पद

प्रतिज्ञावाक्य हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ के आरम्भ में आचार्यचरणों को अनुबन्धचतुष्टय का उल्लेख करना चाहिए था और ऐसा प्रतीत होता है कि आपश्री ने अनुबन्धचतुष्टय का उल्लेख नहीं किया है, तथापि यदि ध्यान से देखें तो अनुबन्धचतुष्टय का उल्लेख आपको ग्रन्थ के अंतर्गत ही दृष्टिगत हो जायेगा।(किसी भी ग्रन्थ का आरम्भ करने से पहले (1)प्रतिपाद्यविषय (2)उसके अधिकारी (3)ग्रन्थ का प्रयोजन और (4)विषय और ग्रन्थ का सम्बन्ध; इन चार पदार्थों का उल्लेख करना आवश्यक होता है, जिसे अनुबन्धचतुष्टय कहा जाता है। जहाँ तक 4थे यानि कि विषय और ग्रन्थ के आपसी सम्बन्ध की बात है तो, ग्रन्थ में जिस विषय की चर्चा की गयी होती है, उसे 'प्रतिपाद्यविषय' कहा जाता है और स्वयं ग्रन्थ उस प्रतिपाद्यविषय का 'प्रतिपादक' होता है अर्थात् उस विषय को बताने वाला होता है। इसलिए विषय और ग्रन्थ में परस्पर 'प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव' का सम्बन्ध होता है) जैसे सबसे पहले तो **स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्** इस पदों के द्वारा आपश्री ने इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्यविषय का उल्लेख किया है, यानि इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्यविषय है- अपने सिद्धान्त को निश्चयपूर्वक बताना। किञ्च, **स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्** शब्द में ही आगे जुड़े हुए विशेषणरूप 'स्व' पद से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, श्रीमदाचार्यचरणों में अनुरक्त और आपश्री के सिद्धान्त को जानने के जिज्ञासु अधिकारियों के लिए ही आपश्री ने यह ग्रन्थ लिखा है अतः इसके द्वारा आपश्री ने इस ग्रन्थ के अधिकारी कौन है, इसका भी निर्देश कर दिया है। और, **स्वसिद्धान्तविनिश्चयम् प्रवक्ष्यामि** इन पदों के द्वारा प्रतिपाद्य एवं प्रतिपादक का सम्बन्ध भी ज्ञात हो जाता है। अब केवल चौथा मुद्दा यानि ग्रन्थ का प्रयोजन ही शेष रह जाता है, जिसके लिए ऐसा लगता है कि आचार्यचरणों ने यहाँ स्पष्ट नहीं किया, किन्तु ध्यान से देखें तो ग्रन्थ का प्रयोजन भी आपश्री ने ग्रन्थ का उपसंहार करते समय *"इस सिद्धान्त को जानकर व्यक्ति समस्त सन्देहों से मुक्त हो जाता है(21)"* इस पंक्ति द्वारा कह ही दिया है, यह समझना चाहिए।

तद् हृदि कृत्वात्र स्फुटीकर्तुं प्रतिज्ञावाक्यमेव व्याख्यातुमुपक्षिप्य व्याकुर्वन्ति अग्रे वक्ष्यमाणैरित्यादि । अग्र इति । ‘मायिकं सगुण’मित्यग्रिमग्रन्थे । शास्त्रार्थसन्देह इति । शास्त्रं काण्डद्वयात्मको वेदः, तदर्थनिश्चायका वेदान्ता वा । अर्थः प्रयोजनं तात्पर्यं च, तद्विषयके सन्देहे । तथा च तैर्वेदप्रयोजनविषयके तत्तात्पर्यविषयके च संशये जाते तन्निरासाय तथेति भावः ।

उपर्युक्त समस्त मुद्दों को प्रभुचरण अपने हृदय में तो पूर्णतया समझे हुए हैं अतः अब आपश्री ने इन सभी को स्पष्ट भी करने के हेतु से आचार्यचरणों के प्रथम प्रतिज्ञावाक्य(**प्रथमश्लोक**)का ही व्याख्यान करना चाहा है और उसका विवरण **अग्रे वक्ष्यमाणैः** इत्यादि शब्दों से किया है। **अग्रे** से आपश्री का तात्पर्य है- आगे ग्रन्थ में आनेवाले मायिक, सगुण, कार्य इत्यादि जगत का स्वरूप बताने वाले विभिन्न मतों से, जिनके कारण शास्त्र का वास्तविक अर्थ करने में असमंजसता होती है। **शास्त्रार्थसन्देहे** से आपश्री का तात्पर्य है= शास्त्र का अर्थ है- दो काण्डों वाला वेद अथवा वेदार्थ का निश्चय करने वाले वेदान्त। अर्थात् वेद या वेदान्तों का अर्थ करने में सन्देह होता है, जिसका निवारण करने के लिए आचार्यचरण अपना सिद्धान्त बता रहे हैं- यह अर्थ है। **अर्थ** शब्द के मायने हैं- प्रयोजन और तात्पर्य; यानि वेद का अर्थ करने में संशय होता है अर्थात् उसके प्रयोजनविषयक या तात्पर्यविषयक संशय होता है, उसका निराकरण करने के लिए आचार्यचरण स्वसिद्धान्त बता रहे हैं, यह भाव है।

स्वसिद्धान्तस्य वेदार्थनिश्चयरूपत्वं च । ‘भगवान् ब्रह्मकार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया । तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवे’दिति द्वितीयस्कन्धवाक्यात् । ‘वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः । तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता ।’ ‘भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्तियोगोऽनपेक्षितः । निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेन्मन’ इत्युद्धवप्रश्ने, ‘धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं शमं दमम् । अन्ये वदन्ति वै स्वार्थमैश्वर्यत्यागभोजनम् । केचिद्यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान् यमान् । आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः । दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः । मय्यर्पितात्मनः सम्यङ्निरपेक्षस्य सर्वतः । मय्यात्मना सुखं यत्तत्कुतस्तद्विषयात्मना’मित्येकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्यात् । ‘[1]सर्वं खल्विदं ब्रह्मे’ति श्रुते‘र्ब्रह्मविद्याश्रुतेश्चा[2]’वगन्तव्यम् ।

और, आपश्री ने वेद के अर्थ का जो निश्चय किया है, वही आपश्री का सिद्धान्त है,(वेद के अर्थ में होने वाले संशयों का

---

१. ‘ ’ चिह्नान्तर्गतं पुस्तकद्वये नास्ति । २. भूमविद्येतिपाठः ।

निराकरण करने के पश्चात् जो निश्चितरूप से सिद्धान्त बना, उसी को आपश्री ने अपना सिद्धान्त बनाया) जो कि *"भगवान् ब्रह्मकात्स्न्येन(श्री0भा- 2/2/34)"* इस द्वितीयस्कन्ध के वाक्य द्वारा भी बताया गया है और जब उद्धवजी ने भगवान से *"ब्रह्मवादी महात्मा आत्मकल्याण के अनेक साधन बतलाते हैं, उनमें से सभी श्रेष्ठ हैं या किसी एक की प्रधानता है ? हे मेरे स्वामी ! जबकि आपने तो भक्तियोग को ही निरपेक्ष और स्वतन्त्र साधन बताया है ?(श्री0भा-11/14/1,2)"* इत्यादि प्रश्न किए तब भगवान ने *"पूर्वमीमांसक धर्म को, साहित्याचार्य यश को, कामशास्त्री काम को, योगवेत्ता सत्य और शमदमादि को, त्यागी त्याग को, लोकायतिक भोग को और कर्मयोगी यज्ञ तप दान इत्यादि को साधन बताते हैं परन्तु ये सभी दोषयुक्त हैं और इन साधनों के फेर में नहीं पड़ना चाहिए(श्री0भा-11/14/10,11)"* इत्यादि एकादशस्कन्धीय वाक्यों द्वारा जो उनका समाधान किया, वही बात आपश्री ने स्वसिद्धान्त के रूप में इस ग्रन्थ में कही है और *"सर्वं खल्विदं(छान्दो-3/14/1)"* इस श्रुति द्वारा एवं ब्रह्मविद्या की श्रुति द्वारा भी यह बात समझनी चाहिए कि आचार्यचरणों का सिद्धान्त वेदार्थ के निश्चय को ही बताने वाला है।

एवं प्रतिज्ञावाक्यव्याख्यानेनाचार्याणां सिद्धान्तस्य वेदार्थनिष्कर्षरूपत्वं बोधयित्वा पूर्वं साधननिष्कर्षं वदन्तीत्याशयेनाग्रिमवाक्यमवतार्य व्याकुर्वन्ति फलात्मकेत्यादि । 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निवृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ।' 'पापकर्षणो' इति श्रुतेः कृष्णपदं परब्रह्मनामत्वेनावगतम् । परं ब्रह्मैव च 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुत्या भूमविद्योक्तनित्यसुखनिरवधिसुखरूपतया च परमफलत्वेनानन्दमयाधिकरणादौ निर्णीतम् । अतः कृष्ण इति फलात्मकस्य भगवतो नाम, तदुक्त्या तत्समभिव्याहारेण तथा सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तः । 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः । स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत' इति वाक्योक्तभक्तिलक्षणा सेति सिद्धान्त इति ज्ञाप्यत इत्यर्थः ।

आचार्यचरणों के प्रतिज्ञावाक्य का व्याख्यान करने के द्वारा *"आचार्यचरणों का सिद्धान्त वेदार्थ का निष्कर्षरूप है"*- इस बात का बोध करा के प्रभुचरणों का मानना यह है कि यहाँ सबसे पहले आचार्यचरणों को ऊपर भागवतवाक्यों में बताया श्रीकृष्ण को प्राप्त करने का साधन बताना है; इस आशय से प्रभुचरणों ने कारिका के अग्रिमवाक्य का आरम्भ करके इसका विवरण **फलात्मक** इत्यादि शब्दों से किया है। परब्रह्म का नाम 'कृष्ण' है, यह *"कृषिर्भूवाचकः शब्दः(गो0ता0उप0)"*,*"पाप दूर करके उद्धार करने वाले"* इत्यादि श्रुतियों द्वारा जानना चाहिए और ऐसे परब्रह्मश्रीकृष्ण ही *"ब्रह्मविदाप्नोति परम्(तै0उप-2/1/7)"* इस श्रुति द्वारा एवं भूमविद्या(छान्दोग्योपनिषद्)में नित्यसुख-निरवधिसुखरूपतया परमफल के रूप में कहे गए हैं, जो कि ब्रह्मसूत्र के आनन्दमयाधिकरण आदि में निर्णीत हुए हैं। नित्यसुख=जो सुख नित्य बना रहे। निरवधिसुख= जो सुख अनन्त हो। अतः आचार्यचरणों ने ऐसे कृष्ण पद का नामोल्लेख किया है यानि फलात्मकभगवान का नाम लिखा है और उस नाम के साथ 'सेवा' पद को जोड़कर कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि, ऐसे फलात्मककृष्ण की सेवा को भी फलात्मक ही समझते हुए उनकी सेवा करनी ही अपने मार्ग का सिद्धान्त है। अर्थात् *"सालोक्यसार्ष्टि(श्री0भा-3/29/13)"* इस वाक्य में भक्ति का जो लक्षण किया गया है, उसी भक्ति के स्वरूप वाली यह सेवा है- यह आपश्री बता रहे हैं, यह अर्थ है।

भक्तिपदमनुक्त्वा यत्सेवापदमुक्तं तत्तात्पर्यमाहुः सेवा हीत्यादि । जीवानाम्, 'एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्षोडशविस्तृतम् । एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयत' इति प्राचीनबर्हिषं प्रति नारदवाक्याद्देहविशिष्टानां चेतनानाम् । 'सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः प्रभवन्ति याः । तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिते'ति गीतावाक्याद्भगवज्जन्यत्वेन तत्पोष्यत्वम्, तेन सर्वेषां तेषां सहजदासत्वं गर्भदासत्वं ज्ञापितम् । तेनासुराणां याऽधोगतिः, सापि 'आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनी'त्यत्र मूढा इति विशेषणेन दासधर्माकरणादेवेति सिध्यति । अत एव 'देवोऽसुरो मनुष्यो वे'ति प्रह्लादवाक्ये भजनाधिकारस्तेषामुच्यते । तेन सर्वेषां चेतनानां जीवानां दासत्वमक्षुण्णमित्यर्थः । तदेतदभिसन्धाय सदापदाशयमाहुः अत इत्यादि ।

यहाँ आचार्यचरणों ने 'भक्ति' पद न लिखकर जो 'सेवा' पद लिखा है, उसका तात्पर्य प्रभुचरणों ने **सेवा हि** इत्यादि शब्दों से बताया है। इस पंक्ति के अंतर्गत आपश्री ने **जीवानाम्** पद लिखा है, जिसमें *"इस प्रकार पञ्चतन्मात्राओं से बना हुआ तथा सोलह तत्त्वों के रूप में विकसित यह त्रिगुणमय संघात ही लिंगशरीर है और यही चेतनाशक्ति से युक्त होकर 'जीव' कहा जाता है(श्री0भा-4/29//74)"* इस प्राचीनबर्हि के प्रति नारदजी द्वारा कहे वाक्यानुसार 'जीव' शब्द का तात्पर्य देहधारी चेतन ही हैं, केवल आत्मा नहीं। और,*"सर्वयोनिषु कौन्तेय(भ0गी-14/4)"* इस गीतावाक्य के अनुसार ऐसे सभी चेतन भगवान से

उत्पन्न हुए हैं इस कारण भगवान ही उन सभी का पोषण करते हैं। इन विश्लेषणों के द्वारा उपर्युक्त सभी जीव भगवान के सहजरूप से दास होने सिद्ध होते हैं। यानि गर्भावस्था से ही भगवान के दास होने सिद्ध होते हैं। इस विवेचन के अनुसार यह सिद्ध होता है कि आसुरीजीवों की भी यदि अधोगति होती है, तो वह भी इसलिए होती है क्योंकि *"आसुरीं योनिमापन्ना(भ0गी-16/20)"* इस वाक्य में उन्हें मूर्ख कहा गया है, इसलिए अपनी मूर्खतावश भगवान के प्रति अपने दासधर्म को न निभाने के कारण होती है, **यदि वे अपने दासधर्म का स्मरण रखते और निभाते तो असुरों की भी अधोगति न होती- यह श्रीपुरुषोत्तमचरणों का आशय है।** देखिए, इसी कारण *"देवोऽसुरो मनुष्यो(श्री0भा-7/7/50)"* इस प्रह्लादवाक्य के अनुसार आसुरीजीवों को भी भगवद्भजन करने का अधिकार है- यह बात कही गयी है। इसलिए उपर्युक्त समस्त विश्लेषणों के प्रकाश में यह सिद्ध होता है कि, समस्त चेतनयुक्तजीवों का भगवान के प्रति दासत्व अक्षुण्ण बना रहता है। इन्हीं सभी मुद्दों का अनुसन्धान रखते हुए प्रभुचरणों ने आचार्यचरणों के "कृष्णसेवा सदा कार्या" में **सदा** पद का आशय बताते हुए अतएव यह पंक्ति लिखी है।

कार्यपदतात्पर्यमाहुः आवश्यकेत्यादि । आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिरित्यर्थद्वयं प्रस्तुत्य 'कृत्याश्चे'ति सूत्रे कृत्यप्रत्यया विहिताः । तत्रावश्यकत्वं नाम पूर्वं कथञ्चित् ज्ञातस्य पश्चात्तदभावेऽनिष्टजननज्ञानपूर्वकज्ञानविषयत्वं वा, तथा कृतिविषयत्वं वा, नतु विधिविषयत्वमात्रम् । प्रैषानुवादसूत्रेणैव तदर्थलाभेनास्य सूत्रस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अतस्तदर्थकण्यत्प्रत्ययान्तकार्यपदोक्त्या तदकरणे प्रत्यवायी भवति । प्रत्यवायस्य पातकत्वात्तेन भक्तिमार्गाद् भ्रश्येतेति भावो ज्ञाप्यते । तथा च स्वस्मिन् भगवद्दासत्वमनुसन्धाय सेवायां च स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वमावश्यकदासधर्मत्वं चानुसन्धाय सर्वकालं सेवाकरणं साधननिष्कर्ष इत्यर्थः ।

कार्या पद का तात्पर्य प्रभुचरणों ने **आवश्यक** इस पंक्ति से बताया है। आपश्री के कहने का तात्पर्य यह है कि, पाणिनीव्याकरण में "आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः(अष्टाध्यायी-3/3/170)"इस सूत्र द्वारा(अर्थात् 'आवश्यक' एवं 'आधमर्ण्य(ॠण लेने वाला)' इन दो **अर्थों को बताने के लिए 'णिनि प्रत्यय' किया जाता है)** 'आवश्यक' एवं 'आधमर्ण्य(ॠण लेने वाला)' इन दो अर्थों को बताने के तत्पश्चात् उन्हीं अर्थों में 'कृत्याश्च**(देखें अष्टाध्यायी-3/3/171)** इस सूत्र द्वारा 'कृत्य प्रत्यय'**('कृत्य प्रत्यय' का तात्पर्य होता है- कृति का विषय बनाना, कृति में लाना)** किए जाते हैं। 'आवश्यक' उसे कहा जाता है, जिसके विषय में पहले तो जिस किसी प्रकार से यह ज्ञात हो जाय कि अमुक कार्य को करना है और तत्पश्चात् "*यदि इसे न किया गया तो अनिष्ट होगा*' इसप्रकारक ज्ञानसहित उस कार्य को समझ लेना। अथवा तो 'आवश्यक कार्य' का अर्थ यों समझें कि उक्तप्रकारक अनिष्ट का अनुसन्धान रखते हुए उस कार्य को कृति में लाना, न कि अनिष्ट को केवल कह देना। किसी विषय को मात्र समझ लेना और समझकर उसे कृति में भी लाना, ये दो अलग-अलग बातें हैं, और इन दोनों बातों को पाणिनीव्याकरण में क्रमशः 'प्रैषानुवाद' सूत्र द्वारा एवं 'कृत्याश्च' इस सूत्र द्वारा दो अलग-अलग सूत्रों द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। यदि 'कृत्याश्च सूत्र**(देखें अष्टाध्यायी-3/3/171)**' द्वारा भी वही बात बतानी होती, जो 'प्रैषानुवादसूत्र**(देखें अष्टाध्यायी-3/3/163)** इस सूत्र में इसके पहले ही बतायी जा चुकी है, तो 'कृत्याश्च' सूत्र बनाना ही व्यर्थ हो जाता। इसलिए आचार्यचरणों ने अवश्यकरणीय अर्थ को बताने वाले ण्यत् प्रत्यय वाले "कार्या" पद का प्रयोग किया है, जिसके द्वारा प्रभुचरण आपश्री का यह अभिप्राय बताना चाह रहे हैं कि प्रभु के सहजदास होने के नाते अवश्यकरणीय कृष्णसेवा नहीं करेंगे तो दोष लगेगा। दोष व्यक्ति का पतन करा देता है, अतः ज्ञात होता है कि जीव कृष्णसेवा नहीं करते तो उन्हें दोष लगता है और उस दोष के कारण जीवों का भक्तिमार्ग से ही पतन हो जायेगा। इन सभी विश्लेषणों से यह सिद्ध होता है कि, अपने आप में भगवान के दासत्व का अनुसन्धान रखते हुए सेवा स्वतन्त्रपुरुषार्थ है एवं सेवा करते समय हममें दासधर्म का अनुसन्धान होना आवश्यक है, इन सभी बातों का ध्यान रखते हुए सभी समय श्रीकृष्ण की सेवा करनी ही श्रीकृष्णप्राप्ति का साधन है- यह निष्कर्ष निकलता है।

नन्वत्र सेव्यसन्तोषजनिका पूर्वोक्तप्रकारककायादिव्यापाररूपा क्रिया सेवात्वेन विवक्षिता । यथा राजसेवा गुरुसेवेति । तस्याः सर्वदा कार्यत्वकथनमशक्योपदेशरूपमित्याशङ्क्य, तत्र समाधिं वदन्तीत्याशयेनाग्रिमं वाक्यं व्याकुर्वन्ति सा चेत्यारभ्य इत्यादिनेत्यन्तम् । तथाच कायादित्रितयव्यापाररूपापि विचार्यमाणा बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विधा । तयोराभ्यन्तरी मानसी बाह्यायाः फलरूपा । बाह्या तु तत्साधनरूपा ।

किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, इस ग्रन्थ में आचार्यचरण सेव्यप्रभु को प्रसन्न करने वाली पूर्व में कहे अनुसार काया

आदि से की जाने वाली क्रिया को सेवा के रूप में बताना चाह रहे हैं, जिस प्रकार किसी राजा की या गुरु की सेवा की जाती है, वैसे; किन्तु यदि आपश्री सेवा सर्वदा करने का उपदेश दे रहे हैं, तो किसी को यह अशक्य उपदेश प्रतीत हो सकता है अतः इसका समाधान प्रभुचरण आगे बता रहे हैं एवं **सा च** से लेकर **इत्यादिना** तक की पंक्ति द्वारा इसका विवरण कर रहे हैं। आपश्री यह समझाना चाह रहे हैं कि, यद्यपि सेवा काया आदि से करने के अनुसार तनुजा-वित्तजा-मानसी यों त्रिप्रकारक होती है, तथापि गंभीरता से विचार किया जाय तो सेवा बाह्य-आभ्यान्तर के भेद से दो प्रकार की सिद्ध होती है। इन दो प्रकारों में से आभ्यान्तरी सेवा 'मानसीसेवा' है, जो कि बाह्यसेवा की फलरूपासेवा कही जाती है **यानि बाह्यसेवा का जो फल मिलेगा, वह मानसी है।** और जो बाह्यसेवा है, वह मानसीसेवा को सिद्ध करने वाली साधनरूपासेवा कही जाती है।

तयोरवान्तरफलरूपत्वं सर्वदा कार्यत्वं च फलाध्यायाद्यपादे 'आवृत्तिरसकृदुपदेशा'दित्यस्य प्रथमवर्णके सिद्धम् । तत्र हि 'द्रष्टव्य' इति पदेन श्रवणादीनां फलरूपं दर्शनं पूर्वमुक्त्वा, 'श्रोतव्य' इत्यादिना तत्साधनानां पश्चात्कथनेनात्मनः परोक्षमपि ज्ञानमवान्तरफलरूपं ज्ञानमार्गे ।

उक्त दोनों प्रकार की सेवाओं की अवान्तरफलरूपता एवं इन्हें सर्वदा करते रहने की बात फलाध्याय के प्रथमपाद में *"आवृत्तिरसकृदुपदेशात्(ब्र0सू-4/1/1)"* इस प्रथमवर्णक में सिद्ध की गयी है, जहाँ ज्ञानमार्गीय साधन-फल का निरूपण करने का प्रसंग आया है। इस ब्रह्मसूत्र में **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः**(बृहदा-2/4/5)**(ब्रह्म ही दर्शन करने योग्य है)** इस श्रुति पर यह विचार किया गया है कि, **द्रष्टव्यः(ब्रह्म ही दर्शन करने योग्य है)** पद के द्वारा श्रवणकीर्तन करने का फल जो दर्शन करना है, उस दर्शनरूपी फल को श्रवणादि साधनों के पहले ही प्राप्त होना कह दिया गया है एवं दर्शनरूप फल बताने के बाद **श्रोतव्यः(ब्रह्मविषयक ही श्रवण करने योग्य हैं)** इत्यादि पदों के द्वारा दर्शन के साधनों की चर्चा की गयी है, इसका तात्पर्य यह हुआ कि, श्रवणादि के द्वारा आत्मा का परोक्षज्ञान होने को तो ज्ञानमार्ग में भी अवान्तरफल ही कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि,ज्ञानमार्गीय साधन-फल का निरूपण करने के प्रसंग में ऊपर कही श्रुति में सबसे पहले 'दर्शन' पद के द्वारा फल की बात कही गयी है और उसके पश्चात् 'श्रोतव्यः' इस पद के द्वारा दर्शन प्राप्त करने के साधनों की बात कही गयी है। चूँकि यहाँ दर्शन की बात जो कि फल है, उसकी बात पहले कही गयी है और दर्शन प्राप्त करने के जो श्रवण आदि साधनों की बात तत्पश्चात् कही गयी है, और जबकि श्रवणादि साधनों के द्वारा आत्मा का परोक्षज्ञान होता है, इसलिए श्रीपुरुषोत्तमचरण यह कहना चाह रहे हैं, कि इससे यह सिद्ध होता है कि उक्तप्रकारक साधन ज्ञानमार्ग में भी अवान्तरफल के रूप में कहे गए हैं। तात्पर्य यह कि ज्ञानमार्ग में भी इन्हें अवान्तरफल ही माना गया है, जबकि पुष्टिमार्ग में तो साधनसेवा भी फलरूपा ही मानी गयी है।

भक्तिमार्गे तु परमफलरूपज्ञानसजातीयत्वेनापि फलमध्यपात्येव श्रुत्यभिमतम् ।' अत एव 'सूत्रकृदपि फलप्रकरणे साधनविचारं चकारे'ति कथनादसकृदुपदेशकथनाच्च ।

परोक्षज्ञान होने का अर्थ होता है- जिसको देखा नहीं है परन्तु उसके विषय में जान लिया गया है। जब देख लिया जाता है तो अपरोक्षज्ञान होता है अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान होता है। श्रीपुरुषोत्तमचरण यह कहना चाह रहे हैं कि, जब मर्यादामार्ग में भी श्रवण आदि को अवान्तरफल के रूप में ही बताया गया है, साधन के रूप में नहीं, वहाँ पुष्टिमार्ग में तो तनुवित्तजासेवा आदि फलरूपा ही मानी गयी हैं, साधन नहीं- यह अर्थ है। किन्तु भक्तिमार्ग में तो तनुवित्तजा परमफलरूपज्ञान की सजातीय होने के कारण फलमध्यपाती ही है- यह अर्थ श्रुति को अभिप्रेत है। इसी कारण "सूत्रकृदपि फलप्रकरणे साधनविचारं चकार" इस कथनानुसार भी देखें और श्रुति ने भी श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः इत्यादि साधनों को वारंवार निरन्तर करने का उपदेश दिया है, यह बात ज्ञात होती है और इससे ज्ञात होता है कि, श्रुति का भी यही अभिमत है कि उक्त साधनों को वारंवार करते रहना चाहिए।

मानस्याः मुख्यत्वं च साधनाध्याये सहकार्यन्तराधिकरणे । श्रुतौ कायिकं वाचिकं मानसिकं च साधनं विधीयते । तत्र मानसं मुख्यम् । 'मनसैवावाप्तव्य'मिति श्रुतेः । तस्यापि स्नेहोदयपर्यन्तमेव विहितत्वेन कर्तव्यता । तदुत्तरं तु स्वत एव तत्सम्भव इति निर्णयात् ।

और मानसीसेवा की मुख्यता तो साधनाध्याय में सहकार्यन्तराधिकरण में बतायी गयी है। श्रुतियाँ भी ब्रह्मप्राप्ति के लिए कायिक, वाचिक और मानसिक साधन करने का विधान करती हैं; और इन तीनों साधनों में से मानससाधन को

मुख्यसाधन बताती है, जैसा कि "*यह परमात्मा मन से ही प्राप्त हो सकता है*" श्रुति में कहा भी गया है। साधन भी विधानरूप में तब तक ही करने होते हैं, जब तक परमात्मा के प्रति स्नेह उदय न हो जाय, क्योंकि एक बार स्नेह उत्पन्न हो जाने के पश्चात् तो सेवा अपने आप ही होने लगेगी- ऐसा निर्णय एतन्मार्ग में किया गया है।

पुष्टिमार्गे तु तस्य या परा काष्ठा, सात्र 'यथा व्रजसीमन्तिनीना'मित्यादिना दर्शिता । यदि हि प्रकारान्तरं तत उत्कृष्टं भगवदभिप्रेतं स्यात्, तदा भगवान् 'अथैतत्परमं गुह्य'मित्यत्र 'सुगोप्यमपि वक्ष्यामी'ति प्रतिज्ञायैतमेव प्रकारं तथात्वेन न वदेत्, अतस्तथा । तेन साधनरूपाया असकृदावर्तनमेव सदा कार्यत्वम् । मानस्यास्तु भगवति मनोगत्यविच्छेदरूपम् । तच्च बाह्याया आवर्तनात्साधनीयम्, अतो नाशक्योपदेशरूपत्वमित्यर्थः ।।१।।

और पुष्टिमार्ग में जो स्नेह की पराकाष्ठा बतायी गयी है, वह तो प्रभुचरणों ने यहाँ **यथा व्रजसीमन्तिनीनां** इत्यादि वाक्यों से दर्शायी है। यदि भगवान इससे भी अधिक उत्कृष्ट कोई अन्य प्रकार का मानससाधन कहना चाहते होते, तो वे "*अथैतत्परमं गुह्यं(श्री0भा-11/11/49)*" इत्यादि वाक्यों के अंतर्गत "*हे उद्धव ! अब मैं तुम्हें भक्ति का परमगोपनीय तथ्य कहता हूँ*" इसप्रकारक प्रतिज्ञा करके "*स्नेह का यही प्रकार उत्कृष्ट है*", ऐसा न कहते; अतः सिद्ध होता है कि प्रभुचरणों ने भगवान के प्रति जिस प्रकार का स्नेह होना चाहिए, उसे बताने के लिए जो व्रजसीमन्तिनियों का उदाहरण दिया है, वही श्रेष्ठ है। इन विश्लेषणों से यह बात सिद्ध होती है कि, साधनरूपा सेवा को वारंवार करते रहना ही सदा सेवा करने का अर्थ है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि, सदा सेवा करते रहने का तात्पर्य निरन्तर या अवकाश लिए बिना करने में नहीं है अपितु वारंवार करते रहने में है अर्थात् प्रतिदिन करते रहने में है। अन्यान्य लौकिककार्य चलते रहें परन्तु सेवाक्रम कभी टूटना नहीं चाहिए- यह अर्थ है। जबकि मानसीसेवा सदा करते रहने का अर्थ भगवान में निरन्तर मन का लगा रहना है, जैसा कि व्रजसीमन्तिनियों का था। और भगवान में निर्बाधरूप से मन का लगा रहना तो बाह्यरूपा तनुवित्तजासेवा को वारंवार करते रहने से सिद्ध होता है, इसलिए उपर्युक्त विश्लेषणों का अनुसन्धान रखते हुए '*कृष्णसेवा सदा करनी चाहिए*' इस वाक्य को आचार्यचरणों का अशक्योपदेश नहीं समझना चाहिए ॥1॥

तदेतदग्रिमावतरणेन निगमयन्ति एतदेवेत्यादि । अत्र मूले मानस्याः स्वरूपं 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'त्यनेनोक्तम् । तत्र प्रवणपद तावत् 'प्रवणं क्रमनिम्नोर्व्यां प्रह्वे ना तु चतुष्पथे' इत्यमरात्, 'प्रवणस्तु क्षणे प्रह्वे क्रमनिम्ने चतुष्पथे । आयत्ते चे'त्यनेकार्थाच्चैतेषु रूढम् । मनश्च वेदे अन्नमयत्वेन श्रावणात्पार्थिवं पृथिवीपोषितं चेति सिद्धम् । एवं सति तस्मिन् कृष्णे पूर्वं प्रह्वमीषन्नम्रं तत आयत्तं तदधीनं ततः क्रमेण भगवदेकतानत्वरूपां 'ता नाविद'न्नितिवाक्योक्तप्रकारां गभीरतां प्राप्तं यच्चेतस्तदेव सेवारूपम् । समाधाविव भगवति लयं प्राप्तमिति यावत् । नतु वृत्त्यन्तरविशिष्टमित्यर्थः ।

सेवा के इसी स्वरूप के विषय में बताते हुए आगे प्रभुचरणों ने **एतदेव** इत्यादि शब्दों से कहा है। मूलग्रन्थ में आचार्यचरणों ने मानसीसेवा का अर्थ 'चेतस्तत्प्रवणं सेवा' इत्यादि शब्दों से बताया है। आगे श्रीपुरुषोत्तमचरण यह बता रहे हैं कि चूँकि अमरकोश में 'प्रवण' शब्द के अनेक अर्थ दिए गए हैं अतः उन अर्थों के परिप्रेक्ष्य में आचार्यचरणों द्वारा कहे 'चेतः तत् प्रवणं' इस वाक्य का अर्थ क्या और कैसे होगा और तदनुसार 'प्रवण' शब्द भगवत्सेवा के संग किस प्रकार से योजित होगा। इसमें **प्रवण** पद "प्रवणं क्रमनिम्नोर्व्यां प्रह्वे ना तु चतुष्पथे(3/3/56)" इस अमरकोश के वाक्यानुसार 'क्रमबद्धनिम्नता', 'प्रह्व','चतुष्पथ(चौराहा)' इन अर्थों में एवं 'क्षण','प्रह्व','पृथ्वी/भूमि की क्रमनिम्नता(ढलान)','चतुष्पथ' एवं 'आयत्त' इत्यादि अनेक अर्थों में रूढ है। मन को भी चूँकि वेद में अन्नमय(अन्न से बना)कहा गया है और अन्न पृथ्वी द्वारा उत्पन्न होता है अतः मन भी पार्थिव है और पृथिवीपोषित है अर्थात् पृथिवीसम्बन्धित है, इसलिए मन के लिए भी वही बात लागू होती है, जो बात पृथ्वी/भूमि के लिए अमरकोश में क्रमनिम्नता(ढलान) से बतायी गयी है, यानि कि मन की गहरी उतरती हुई दशाएँ उसी प्रकार से कही जा सकती हैं, जिस तरह से पृथ्वी/भूमि की ढलान होती है। इसी कारण अमरकोश में 'प्रवण' शब्द जो कि पृथ्वी/भूमि की क्रमनिम्नता(ढलान) को बताता है, वही अर्थ मन के लिए भी योजित होता है- यह अर्थ है। इस परिस्थिति में समझना यह चाहिए कि ऐसे मन द्वारा सर्वप्रथम परब्रह्मश्रीकृष्ण में 'प्रह्व' अर्थात् ईषद् नमन(थोड़ा झुकाव), तत्पश्चात् 'आयत्त' यानि कि श्रीकृष्ण के प्रति अधीनता होनी, उसके पश्चात् क्रमशः धीरे धीरे गहराई में उतरते हुए भगवान के प्रति एकतान हो जाने रूप जो चित्तवृत्ति है, उसका नाम है चित्त की भगवान में प्रवणता होनी; अर्थात् "*ता नाविदन्(श्री0भा-11/12/12)*" इस वाक्यानुसार जो भगवान के प्रति गहराईपूर्वक चित्त का लग जाना है,

वही मानसीसेवा है। जिस प्रकार से समाधि की अवस्था में भगवान में लय/एकाकार हो जाया जाता है, वैसे ही भगवान के अतिरिक्त अन्यत्र वृत्ति न जाय, उस प्रकार से भगवत्सेवा करने का तात्पर्य चित्त की प्रभु में प्रवणता होनी है- यह अर्थ है।

(न च क्रमनिम्नत्वस्याचार्याशयगोचरत्वे मानाभावः शङ्क्यः । भक्तिवर्धिन्यां बीजदार्ढ्यप्रकारकथने 'ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवे'दित्यत्र तथाङ्गीकारस्य स्फुटत्वादिति[१]) ।

यह शंका मत करिए कि इस बात में क्या प्रमाण है कि, मैंने अमरकोश आदि के वाक्यों के आधार पर 'प्रवण' शब्द का जो अर्थ "नमन करना, अधीन हो जाना, भगवान में एकतानता होनी यों क्रमशः भक्ति गहरी होती चली जाती है" इत्यादि ढंग से किया है, तो क्या आवश्यक है कि यही आशय आचार्यचरणों का भी रहा होगा!! नहीं...... ऐसी शंका मत करिए क्योंकि आचार्यचरणों ने भक्तिवर्धिनी में भी बीजदार्ढ्यप्रकार बताने के अंतर्गत *"श्रवणादि करने से प्रभु के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है, उसके पश्चात् आसक्ति और उसके पश्चात् व्यसन होता है(3)"* यों इस प्रकार से क्रमशः भक्तिविकसित होने का प्रकार स्पष्टतया स्वीकार किया है।

एवं मानसीं साध्यरूपां निष्कृष्य साधनरूपाया निष्कर्षं वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतार्य व्याकुर्वन्ति उक्तसेवेत्यादि । अत्रेदं बोध्यते । इन्द्रियव्यापारं विना केवलस्य देहस्य न सेवाकर्तृत्वमिति प्रत्यक्षतोऽवसीयते । अत इन्द्रियव्यापारापेक्षायां यथा ज्ञानमार्गे नित्यनैमित्तिककर्मसहकृतं श्रवणादित्रयं पूर्वं साधनं, तत्परिपाकदशायां प्रव्राजसहकृतं केवलमुपासनात्मकं ज्ञानम्; तथा भक्तिमार्गे 'एतान्यपि तु कर्माणी'ति गीतोक्तरीत्या तत्सहकृतं श्रवणादिनवकम्, तदप्येकादशस्कन्धे 'पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं पर'मित्युपक्रम्य 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्ति'रित्यन्तोक्तरीत्या क्रियमाणं साधनम् । तत्परिपाकदशायां तु स्नेहेन क्रियमाणं तत्साधनम् ।

इस प्रकार साध्यरूपा मानसीसेवा(साध्यरूपा का अर्थ है- जिसको सिद्ध करने का प्रयत्न करना है, वह)का तात्पर्य बताकर अब प्रभुचरण साधनरूपासेवा का तात्पर्य बता रहे हैं। इस आशय से आपश्री **उक्त सेवा** इत्यादि शब्दों से इसका विवरण कर रहे हैं। यहाँ यह समझना चाहिए कि, इन्द्रियों को जोड़े बिना केवल देह से सेवा नहीं की जा सकती या उसे सेवा नहीं कहा जा सकता- यह बात तो प्रत्यक्षरूप से जानी जा सकती है, इसलिए जहाँ तक इन्द्रियों को भगवत्सेवा में योजित करने की बात है, तो जिस प्रकार ज्ञानमार्ग में नित्य-नैमित्तिक कर्मों के संग श्रवण-मनन-निदिध्यासन यह तीन साधन पूर्व में बताए जाते हैं, और उन साधनों को करते करते परिपक्वदशा आ जाने पर संन्यास के समय जब समस्त नित्य-नैमित्तिककर्म भी त्याग दिए जाते हैं, तब केवल अन्तःकरण में ही उपासना करते रहने का ज्ञान हो जाता है; ठीक उसी प्रकार भक्तिमार्ग में भी "एतान्यपि तु कर्माणि(भ0गी-18/6)" इस गीतावाक्यानुसार नित्यनैमित्तिककर्म करते हुए श्रवणादि नवक साधन बनते हैं, और वे भी एकादशस्कन्ध के *"हे उद्धव! भक्तियोग का वर्णन तो मैं तुम्हें पहले ही सुना चुका हूँ, अब मैं तुम्हें फिर से भक्ति प्राप्त होने का श्रेष्ठ साधन बताता हूँ(श्री0भा-11/19/19)"* इस वाक्य से आरम्भ करके *"एवं धर्मैः(श्री0भा-11/19/24)"* इस वाक्य में कही रीति अनुसार किए जाएँ तब ही प्रभुप्राप्ति के साधन बनते हैं। किन्तु भक्ति की परिपक्वदशा आ जाने पर तो श्रवणादि नवक स्नेहपूर्वक करने पर ही भगवत्प्राप्ति के साधन बनते हैं। उपर्युक्त ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग के प्रकार का उदाहरण देकर श्रीपुरुषोत्तमचरणों ने यह सिद्ध किया है कि चाहे ज्ञानमार्ग हो या भक्तिमार्ग, दोनों में ही ब्रह्मप्राप्ति के लिए किए जाने वाले साधनों में कर्ता की इन्द्रियों का भी जुड़ना अत्यावश्यक है तभी फलप्राप्ति हो सकती है। किन्तु यदि इन्द्रियाँ नहीं जुड़ती अथवा कर्ता के अतिरिक्त अन्य किसी की जुड़ती हैं, तो मानसी सिद्ध नहीं होगी- यह श्रीपुरुषोत्तमचरण आगे बता रहे हैं।

तच्चेद्वित्तं वेतनत्वेन दत्वा कार्यते, तदा सा चित्तस्य राजसत्वं कुर्वन्ती चित्तस्य तत्प्रवणत्वं न करोति । यदि च वित्तं वेतनत्वेन गृहीत्वा क्रियते, तदा ऋत्विजो यागवत् स्वस्य तत्प्रवणत्वरूपं फलं न साधयति । न च यागो यजमानस्येव वित्तदातुः फलतीति शंक्यम् । तत्रर्त्विग्दक्षिणावरणादिवदत्र तद्दानादेर्भक्तिमार्गे भगवतानुक्तत्वात् । अतस्तथा न कार्यम्, किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम् । तदैव साधनरूपा साध्यरूपां मानसीं सेवां जनयन्ती स्वयमपि पश्चात्फलरूपतया व्रजस्थानामिव पर्यवस्यतीति । एतदेव निबन्धे 'विशिष्टरूपं वेदार्थं' इत्यादिना 'एतन्मार्गद्वयं प्रोक्त'मित्यन्तेन सविवरणेन बोधितम् ।

---

[१] ( ) क्वचिन्नास्ति ।

किन्तु यदि सेवा धन को वेतन के रूप में देकर किसी अन्य से करवायी जाय तो ऐसी सेवा चित्त में राजसता पैदा करती है और चित्त को प्रभु में प्रवण नहीं करती। ठीक इसी प्रकार उपर्युक्त प्रकार से यदि कोई धन को वेतन के रूप में ग्रहण करके सेवा करता हो, तो जैसे यज्ञकर्ता(यज्ञ करने वाला)को यज्ञफल नहीं मिलता अपितु यजमान(यज्ञ कराने वाला)को ही फल मिलता है, उसी प्रकार ऐसी सेवा वेतनत्वेन धन लेकर करने वाले के चित्त को भगवान में प्रवण कराने वाले फल को सिद्ध नहीं करती। यहाँ आप यह मत सोच लेना कि, तो फिर जिस प्रकार यज्ञ का फल यजमान को मिलता है, उस प्रकार से धन देकर सेवा कराने वाले को भी सेवा का फल प्राप्त हो जायेगा......... नहीं, यह तर्क भगवत्सेवा के लिए लागू नहीं पड़ता क्योंकि जिस प्रकार यज्ञ के संदर्भ में यजमान द्वारा ऋत्विकों का चुनाव करके तत्पश्चात् उनसे यज्ञ करवा के उन्हें दक्षिणा देकर यज्ञफल स्वयं प्राप्त करने की बात कही गयी है, उस प्रकार से धन देकर या दक्षिणा आदि देकर भगवत्सेवा करवा कर फल स्वयं प्राप्त कर लेने का प्रकार भगवान ने भक्तिमार्ग में कहीं भी नहीं कहा है। इस कारण धन देकर अथवा धन लेकर वेतनत्वेन किसी से भगवत्सेवा नहीं करनी/करवानी चाहिए अपितु स्वयं भगवान ने एकादशस्कन्ध में जिस प्रकार से कहा है, उस रीति से ही सेवा करनी चाहिए। भगवदुक्त साधनसेवा ही साध्यरूपा मानसीसेवा को उत्पन्न करती है और कालांतर में स्वयं भी फलरूपा बन जाती है, जैसी व्रजभक्तों की सेवा थी। यही बात आचार्यचरणों ने निबन्ध में "विशिष्टरूपं वेदार्थः(सर्व-220)" इत्यादि वाक्यों से लेकर "एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तं-256)" यहाँ तक के वाक्यों द्वारा विवरणसहित बोध करायी है।

यत्पुनरादिमे 'सेव्यः सायुज्यकाम्यये'त्युक्तम्, तत्तु मुख्याधिकाराभावपरम् । अत एव सर्वनिर्णये 'भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यत' इत्युक्तम्, अतो न दोषः ।

अब किसी को यदि यों शंका हो कि, **प्रभुचरणों ने तो व्रजभक्तों की सेवा को सर्वोत्कृष्ट** बताया **है और व्रजभक्तों को रासस्वरूपकृष्ण को प्राप्त करने रूपी फल मिला है, तो फिर आचार्यचरणों ने निबन्ध में ऐसा क्यों कहा कि, जिनको सायुज्य चाहिए उन्हें कृष्णसेवा करनी चाहिए ! तो इसका समाधान यह समझना चाहिए कि,** उक्त निबन्ध के आरम्भ में आपश्री ने जो "*सायुज्य की कामना हो तो कृष्णसेवा करनी चाहिए(शा0प्र-13)*" यह बात कही है, वह बात तो उनके लिए कही है जिनका मुख्याधिकार नहीं है। इसी कारण सर्वनिर्णय में भी आचार्यचरणों ने "*भक्ति स्वतन्त्र है, शुद्ध है और दुर्लभ है, सभी को प्राप्त नहीं होती (सर्व-196)*" यह कहकर यह बताया है कि, पुष्टिभक्ति के लिए सभी अधिकारी नहीं होते, अतः प्रभुचरणों के प्रकृतविवेचन में कोई दोष नहीं है।

एवं साधननिष्कर्षमुक्त्वा तस्याग्रिमव्यवस्थां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति एतादृशस्येत्यादि । अत्रैतादृशस्येति पदेनेदं ज्ञाप्यते । यदाधुनिकैस्तादृशाधिकारराहित्येऽपि मार्गप्रवर्तकाचार्योक्तप्रकारेण क्रियते, तत्तु भक्तिहंसे विधिमजानता बालेन पित्रादिशिक्षया कृतः सन्ध्यावन्दनादिः प्रत्यवायपरिहारेण यथा आरात् कर्ममार्गीयफलोपकारी भवति, तथैतदपि । 'न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छती'ति न्यायेनारादुपकरोति, न तु साक्षात् । अतः सद्भिरुपदिष्टेन प्रकारेण शास्त्रार्थं बुद्ध्वा करणीयमिति व्याकुर्वन्ति अहन्तेत्यादि ।

इस प्रकार से साधनसेवा का निष्कर्ष कहकर प्रभुचरण यह बता रहे हैं कि, जब सेवाकर्ता भगवत्सेवा उक्तप्रकारक रीति से करेगा, तो क्या होगा। इस बात को बताने के लिए आगे आपश्री ने **एतादृशस्यावान्तरफलं भवति** यह पंक्ति लिखी है (**यह ध्यान रखना चाहिए कि, प्रभुचरणों की टीका में 'एतादृश' पद का तात्पर्य प्रभु को सर्वस्व निवेदित करके अपनी देह का भी प्रभु में विनियोग करके भगवत्सेवा करने वाला तादृशीजीव है**)। यहाँ प्रभुचरणों के **एतादृश** पद से यह बात जानने मिलती है कि **प्रभु को सर्वस्व निवेदित करके अपनी देह का भी प्रभु में विनियोग करके भगवत्सेवा करने वाले तादृशीजीवों के अतिरिक्त जो आधुनिकजीव हैं, उन आधुनिकजीवों का व्रजभक्तों जैसा उत्तम अधिकार तो खैर नहीं है, तथापि यदि वे हमारे मार्गप्रवर्तक आचार्यचरणों के कहे अनुसार भगवत्सेवा करते हैं, तो उन्हें केवल उसप्रकारक फल ही प्राप्त होता है, जैसा कि भक्तिहंस में प्रभुचरणों ने बताया है। भक्तिहंस में प्रभुचरणों ने बताया है कि, वो बालक जो विधि नहीं जानता परन्तु केवल पिता-गुरु इत्यादि के द्वारा कहने पर ही सन्ध्यावन्दन आदि करता है, तो उससे केवल सन्ध्यावन्दन न करने का दोष ही दूर हो पाता है और वह शीघ्र ही कर्ममार्गीयफल प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ता है परन्तु उसे मुख्यकर्ममार्गीयफल प्राप्त नहीं होता, ठीक उसी प्रकार यदि आधुनिकजीव भी सेवा करने को केवल कहा होने के कारण सेवा करते हैं, तो इससे उनका सेवा न करने का दोष ही दूर हो पाता है, उन्हें मुख्यफल मानसी की प्राप्ति नहीं होती,** क्योंकि भगवान ने गीता में

"*कल्याणकारी कार्य करने वाले की कभी दुर्गति नहीं होती(भ0गी-6/40)*" यह कहा है, इसलिए चूँकि कोई भी कल्याणकारी कार्य व्यर्थ नहीं जाता अतः सेवा करता होने के कारण वह अधोगति होने से तो बच जायेगा, परन्तु उसे साक्षात् मानसीसेवा सिद्ध होने का फल नहीं मिलेगा। अतः फलितार्थ यह कि, सज्जनों के द्वारा उपदिष्ट प्रकार से शास्त्र के अर्थ को जानकर भगवत्सेवा करनी चाहिए- इस मुद्दे का विवेचन प्रभुचरणों ने **अहन्ता** इस पंक्ति में किया है।

तन्निवृत्त्येति । अहन्ताममतात्मकसंसारनिवृत्त्या । अग्र इति । ब्रह्मबोधनपदे । तस्य स्वरूपं स्वात्मनीत्यादिनोक्तम् । एतस्यावान्तरफलस्योक्तेः प्रयोजनमाहुः भगवदित्यादि । अभिनिविष्टस्येति । 'स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद् गृहारुचिः । गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते । यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव ही' ति रीत्या जातव्यसनस्य तदुत्तरं भक्तिवृद्धिमतः । तथाच क्रियमाणा बाह्याभ्यन्तरी यथोक्तरूपा जाता अतः परं परमं फलं साधयिष्यतीति तेन निश्चेयमिति ज्ञापनायेदमवान्तरफलमुक्तमित्यर्थः ।।२।।

इस पंक्ति में **तन्निवृत्या** का अर्थ है- अहन्ताममतात्मक संसार की निवृत्ति होने के द्वारा। प्रभुचरणों के **अग्रे** शब्द का तात्पर्य है- ब्रह्मबोधन पद में(अर्थात् अनिष्टनिवृत्ति तो संसारदुःख दूर होने के द्वारा कह दी गयी और आगे ब्रह्मबोधन पद से इष्टप्राप्ति होनी बता रहे हैं)। ब्रह्मबोध होने का स्वरूप प्रभुचरणों ने **स्वात्मनि** इत्यादि शब्दों से कहा है। उक्त प्रकार से भगवत्सेवा करने वाले को प्राप्त होने वाले इन फलों को प्रभुचरणों ने अवान्तरफल क्यों कहा- इसका प्रयोजन आपश्री ने **भगवत्सेवायाम्** इस पंक्ति में लिखा है। इस पंक्ति में **अभिनिविष्ट** पद का अर्थ है- "*स्नेहाद्रागविनाशः(भक्तिवर्धिनी-4)*" इस वाक्य में कही रीति अनुसार व्यसन सिद्ध हो चुकने के पश्चात् जिसकी भक्ति वृद्धि को प्राप्त हो चुकी है, ऐसे को भगवत्सेवा में अभिनिविष्ट कहा जाता है; इससे आपश्री के कहने का तात्पर्य यह है कि, भगवत्सेवा में इसप्रकारक अभिनिविष्टभक्त को यद्यपि उक्त अवान्तरफल प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं होती, तथापि, भगवत्सेवा करते करते जब उसे ये दो फल प्राप्त हो जाते हैं, तब इन फलों को पाना इस बात का संकेत है कि, वह मन में निश्चयपूर्वक यह बात समझ ले कि "*मैं जो बाह्याभ्यन्तरी सेवा कर रहा हूँ, वह जिस प्रकार से बतायी गयी है, उस प्रकार से भलीभाँति हो रही है और अब मैं अवश्य परमफल प्राप्त कर लूँगा*"- यह बात बताने के लिए ही प्रभुचरणों ने इन दोनों फलों को अवान्तरफल कहा है- यह अर्थ है॥2॥

एतस्मिन् सम्पन्ने दुःखनिवृत्त्योक्तविधज्ञानमेव मानसीकाष्ठां मन्येत, तदा भक्तिमार्गीयं फलं न भवेत्, अतस्तन्निवृत्त्यर्थं फलनिष्कर्षं प्रमेयनिष्कर्षं च सार्धनवभिर्वक्तुं प्रथममवान्तरप्रमेयं वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति इदमेवेत्यादि । इदमिति । जीवस्वरूपमक्षरं वा । व्याकुर्वन्ति यशोदेत्यादि । अत्र 'परं ब्रह्म तु कृष्णो ही'ति मूलम् । तत्र तुः पूर्वव्यावर्तकः । हिर्हेतौ । तथा च यतो हेतोः । 'कृषिर्भूवाचकः शब्दः' 'गोपवेशमभ्रामम्' 'गोपवेशो मे पुरुषस्तदा आविर्बभूवे'त्यादितापनीयश्रुतिभिः 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मित्यादिस्मृतिभिरुपनिषदो गोपालतापिनीति नाम्ना च 'यशोदोत्सङ्गलालितः कृष्णः अक्षरात्परतः परः । एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते । परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । स उत्तमः पुरुष' इत्यादिश्रुतेः, 'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।' 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः', 'परं ब्रह्म परं धामे'त्यादिस्मृतेश्च परं ब्रह्म, नत्वन्यः 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि', 'रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भर'मित्याद्युक्तो विभूत्यादिरूपो न इति ज्ञापनाय मूलस्य परब्रह्मणो नामोक्तम् । यदि हि सोऽवतारः स्यात्, तदा यदुवंशोद्भवो मुख्य इति यादवतापिन्युपनिषत्स्यात्, गोपरूपेण च नाविर्भवेदिति । अतस्तत्रावतारत्वं न ज्ञेयम् । अक्षरं च परब्रह्मत्वेन न ज्ञेयमित्यर्थः ।

किन्तु उपर्युक्त प्रकार से सेवाकर्ता को यदि दुःखों की निवृत्ति एवं ब्रह्मबोध हो जाए और इसी को परमफल मानसी मान लिया जाय, तो उसे भक्तिमार्गीयफल प्राप्त नहीं होगा अतः प्रभुचरण इसका स्पष्टीकरण करने के लिए एवं फलनिष्कर्ष एवं सिद्धान्तनिष्कर्ष भी साढ़े नौ श्लोकों द्वारा आचार्यचरणों ने सर्वप्रथम अवान्तरप्रमेय(अक्षरब्रह्म)के विषय में कहा है- इस आशय को बताने के उद्देश्य से प्रभुचरणों ने आगे **इदमेव** यह पंक्ति लिखी है। **इदम्** का अर्थ है- जीवस्वरूप अथवा अक्षरब्रह्म; अर्थात् आपश्री यह कह रहे हैं कि, जिसे ब्रह्मबोध हो गया है उस जीव को ही अथवा तो अक्षरब्रह्म को ही परब्रह्म नहीं समझ लेना चाहिए अपितु परब्रह्मश्रीकृष्ण के स्वरूप को समझाने के लिए आपश्री ने **यशोदोत्संगलालितः** इत्यादि शब्दों से कहा है। मूलग्रन्थ में कहे **"परं ब्रह्म तु कृष्णो हि"** इस कारिका में कहा गया **'तु'** शब्द पूर्व में कहे अक्षरब्रह्म को हटाए दे रहा है और परब्रह्म का ही परामर्श कर रहा है। **हि** का अर्थ है- [1]इसी कारण "*कृषिर्भूवाचकः*

शब्दः","गोपवेशमभ्रामम्(गो0ता0उप)","गोपवेशो मे पुरुषस्तदा आविर्बभूव" इत्यादि तापनीयश्रुति द्वारा एवं *"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्(श्री0भा-1/3/28)"* इत्यादि स्मृतियों के अनुसार एवं गोपालतापिनी उपनिषद् में लिए गए श्रीकृष्णनाम के द्वारा एवं "*यशोदोत्संगलालितः कृष्णः अक्षरात्परतः परः","एतस्माज्जीवनात्(प्रश्नोपनिषद्-5/5)*" इत्यादि श्रुतियों के आधार पर एवं "*यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि(भ0गी-15/18)","उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः(भ0गी-15/17)","परं ब्रह्म परं(भ0गी-10/12)*" इत्यादि स्मृतियों के आधार पर श्रीकृष्ण ही परब्रह्म सिद्ध होते हैं, अन्य कोई नहीं]]; इसका अर्थ ये हुआ कि, [2]"*वृष्णीनां वासुदेवोस्मि(भ0गी10/37)","रामकृष्णाविति भुवो(श्री0भा-1/3/23)*" इत्यादि अन्य वाक्यों में जो विभूतिरूप कहे गए हैं, वे विभूतिरूप परब्रह्म नहीं हैं, इसी कारण आचार्यचरणों ने सीधे मूल परब्रह्म का नाम लिखा है।] यदि परब्रह्म मात्र एक अवतार ही होते, तब तो 2सरे कोष्ठक में गिनाए वाक्यों के आधार पर यदुवंशों में उत्पन्न होने वालों में मुख्य होने के नाते उनका स्वरूप बताने वाले उपनिषद् का नाम 'यादवतापिनी उपनिषद्' होता(यानि फिर उपनिषद् में यादवस्वरूप को मुख्य बताया जाता), न कि पहले कोष्ठक में गिनाए वाक्यों के आधार पर 'गोपालतापिन्युपनिषद्' नाम होता। साथ ही साथ परब्रह्मता सिद्ध करने के लिए प्रभु गोपरूप से भी आविर्भूत न हुए होते, यदि विभूतिरूप ही परब्रह्मस्वरूप होता तो ! अतः दूसरे कोष्ठक में गिनाए वाक्यों में यादवों के यहाँ जन्म लेने वाले श्रीकृष्ण परब्रह्म नहीं है अपितु पहले कोष्ठक में गिनाया गया श्रीकृष्ण का गोपरूप ही परब्रह्मस्वरूप है, यह समझना चाहिए। अतः परब्रह्मश्रीकृष्ण को अवतार नहीं समझ लेना चाहिए। साथ ही साथ अक्षरब्रह्म को भी परब्रह्म नहीं मान लेना चाहिए।

ननु 'सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे' इति तापनीयश्रुतिवत् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति तैत्तिरीयेपि श्रावणादक्षरकृष्णयोः स्वरूपलक्षणैक्यादभेद एवाङ्गीकार्य इत्याशङ्कां निवारयन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति अत्रेत्यादि । सच्चिदानन्दकं बृहदित्यत्रापि देहलीदीपवत् हिशब्दः सम्बध्यत इत्याशयेन व्याकुर्वन्ति एते हीत्यादि, ज्ञाप्यत इत्यन्तम् । हिर्हेतौ । एत इति । सच्चिदानन्दाः ।

[अब यहाँ एक शंका यह होती है कि,"*सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे*" इस तापनीयश्रुति में जिस प्रकार से श्रीकृष्ण का स्वरूप बताया गया है, वैसा ही स्वरूप तैत्तिरीय उपनिषद् में "*सत्यं ज्ञानमनन्तं(तै0उप-2/1/1)*" इस श्रुति द्वारा अक्षरब्रह्म का भी बताया गया है, अतः जब दोनों के लक्षण एक ही बताए गए हैं तो फिर श्रीकृष्ण एवं अक्षरब्रह्म में अभेद ही क्यों न मान लिया जाय!] - इस शंका का निवारण करने के लिए प्रभुचरणों ने आगे **अत्र** यह वाली पंक्ति लिखी है। **परं ब्रह्म तु ....बृहत्** इस कारिका में **हि** शब्द देहलीदीपक की भाँति 'परब्रह्मश्रीकृष्ण' एवं 'सच्चिदानन्दात्मकं बृहत्' इन दोनों पदों से सम्बन्धित है(अर्थात् 'हि' शब्द निश्चितरूप से श्रीकृष्ण को भी परब्रह्म सिद्ध करने के लिए है एवं निश्चितरूप से बृहत् यानि अक्षरब्रह्म को भी सच्चिदानन्दात्मक सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त हुआ है)- यह बात बताने के लिए प्रभुचरणों ने इसका व्याख्यान **एते हि** से लेकर **ज्ञाप्यते** यहाँ तक के शब्दों तक किया है। **हि** शब्द हेतु अर्थ में है, इसका अर्थ यह है कि, चूँकि सत् चित् आनन्द भगवद्धर्मात्मक हैं अतः इस हेतु से ये तीनों जिसमें प्रकट हैं, वह अक्षरब्रह्म है। **एते** का अर्थ है- सत्, चित् एवं आनन्द।

कप्रत्ययश्च प्रतिकृतौ 'इवे प्रतिकृता'वित्यनेन भवति । कुत्सापक्षेऽपि प्रतिकृतित्वादेव हीनताद्योतनम् ।

सच्चिदानन्दकं शब्द में 'क' प्रत्यय प्रतिकृति के अर्थ में "*इवे प्रतिकृतौ(अष्टा-5/3/96)*" इस सूत्र द्वारा हुआ है, प्रतिकृति का अर्थ होता है- किसी के जैसा। 'क' प्रत्यय प्रतिकृति के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। यहाँ बृहद्/अक्षरब्रह्म के लिए 'सच्चिदानन्दकं' शब्द में 'क' प्रत्यय का प्रयोग है, इसका तात्पर्य यह है कि आचार्यचरणों ने अक्षरब्रह्म को सच्चिदानन्द के जैसा बताया है, सच्चिदानन्द ही नहीं। आपश्री को कहना यह है कि अक्षरब्रह्म केवल सच्चिदानन्द के जैसा है परन्तु सच्चिदानन्द नहीं है क्योंकि सच्चिदानन्द तो परब्रह्मश्रीकृष्ण हैं और अक्षरब्रह्म उनकी तुलना में उनसे न्यून है। और यदि 'कुत्सा' यानि हीनता वाला पक्ष भी मानें, तब भी हीनता वाला अर्थ भी प्रतिकृति अर्थ लेने से ही आ जाता है। अर्थात् अक्षरब्रह्म को 'परब्रहम के जैसा है' इतना कह देने से ही अक्षरब्रह्म की परब्रह्म से न्यूनता/हीनता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि इस वाक्य का तात्पर्य यह निकलता है कि, अक्षरब्रह्म केवल परब्रह्म के जैसा ही है, फिर भी परब्रह्म नहीं है।

तथा चानन्दमीमांसायां शतानन्दिभ्य आधिक्येपि 'ते शतं प्रजापतेरानन्दाः, स एको ब्रह्मण आनन्द' इति गणनापरिच्छेदस्य तैत्तिरीये श्रावणात्, बृहदारण्यके च 'ते ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः, स एको ब्रह्मलोक आनन्द' इति तदानन्दिनो लोकत्वेन विशेषितत्वात्, ततः परस्य च 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा

सहे'त्यनेनापरिच्छिन्नानन्दत्वश्रावणात्तयोः स्वरूपैक्येपि भेद एव पर्यवस्यति ।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि आनन्द की गणना करने में यद्यपि अक्षरब्रह्म को प्रजापति के सौ आनन्द से भी अधिक बताया तो गया है परन्तु "*ते ये शतं प्रजापतेः(तै0उप-2/8/1)*" इस तैत्तिरीय उपनिषद् की श्रुति में यह बताया गया है कि अक्षरब्रह्म के आनन्द की गणना हो सकती है, साथ ही साथ बृहदारण्यक में भी "*ते शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः(4/3/33)*" इस श्रुति द्वारा अक्षरब्रह्म के आनन्द को एक लोक के रूप में बताया गया है; किन्तु इसके ऊपर की कोटि में परब्रह्म को तो "*यतो वाचो(तै0उप-2/9/1)*" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा असीमित आनन्द के रूप में बताया गया होने के कारण परब्रह्म एवं अक्षरब्रह्म का स्वरूप एक होने पर भी अंततोगत्वा इन दोनों में भेद होना सिद्ध होता है।

इदं यथा तथा समन्वयाध्याये अदृश्यत्वाद्यधिकरणे प्रपञ्चितम् । तेनाभेदोऽप्यमित्रादिवत् भेदविरुद्धसम्पद्रूपस्तादात्म्य एव पर्यवस्यति । तेनाक्षरस्य पुरुषोत्तमान्न्यूनत्वमप्यक्षुण्णमिति तदेव भेदकमित्यर्थः । एवमत्र भगवतः कृष्णस्य परब्रह्मत्वकथनेन फलनिष्कर्ष उक्तः ।

यह सभी कुछ समन्वयाध्याय में अदृश्यत्व आदि अधिकरण में विस्तार से बताया गया है। इस कारण परब्रह्म एवं अक्षरब्रह्म में अभेद होना उसी प्रकार से है, जिस प्रकार से 'अमित्र' कह दिया जाता है। यहाँ 'अभेद' या 'अमित्र' शब्द में 'अ' का तात्पर्य अभाव बताने में नहीं है अपितु विरुद्ध लक्षण बताने में है। उदाहरण के रूप में किसी व्यक्ति के लिए कह दिया जाय कि 'यह मेरा मित्र नहीं है अर्थात् अमित्र है' तो इसका तात्पर्य यह है कि उस व्यक्ति के प्रति उसका मैत्रीभाव नहीं है; किन्तु इसका ये तात्पर्य नहीं हुआ कि वो व्यक्ति ही नहीं है या उसकी सत्ता ही नहीं है। उसे 'अमित्र' कहने से केवल उसके प्रति मैत्रीभाव का निषेध कहा जा रहा होता है, स्वयं उस व्यक्ति का नहीं। ठीक इसी प्रकार परब्रह्म एवं अक्षरब्रह्म में 'अभेद' कहा जा रहा है, तो इसका तात्पर्य ये नहीं हुआ कि दोनों एक ही हैं या दोनों में कोई भेद ही नहीं है, अपितु इसका अर्थ ये हुआ कि अभेद(एक)होने पर भी अक्षरब्रह्म की सत्ता अलग से विद्यमान है। 'अभेद' कहने से केवल भेद न होना बताया जा रहा है, अक्षरब्रह्म की सत्ता को नहीं हटाया जा रहा है; ठीक उसी प्रकार जैसे किसी को 'अमित्र' कह दिया जाय, तो इसका तात्पर्य केवल उस व्यक्ति के प्रति मैत्रीभाव न होना द्योतित होता है, जबकि उस व्यक्ति की सत्ता तो विद्यमान रहती ही है। चूँकि ऊपर दी गयी श्रुतियों में अक्षरब्रह्म के अमुक धर्म परब्रह्म के समान तो अमुक धर्म उससे भिन्न बताए गए हैं अतः केवल इसी अर्थ में दोनों में अभेद होना कह दिया गया है इसलिए अक्षरब्रह्म का परब्रह्म से अभेद कहने का तात्पर्य केवल उसे परब्रह्म के जैसा बताने में ही है, इसका अर्थ यह नहीं है कि, अक्षरब्रह्म की अलग से कोई सत्ता ही नहीं है। अक्षरब्रह्म को केवल परब्रह्म के जैसा कह देने से अक्षरब्रह्म की पुरुषोत्तम से न्यूनता भी अक्षुण्ण बनी रहती है, और यही न्यूनता दोनों में भेद सिद्ध करती है- यह अर्थ है। इस प्रकार आचार्यचरणों ने यहाँ कृष्ण को परब्रह्म कहकर कृष्णसेवा में प्राप्त होने वाले फल का निष्कर्ष भी कह दिया अर्थात् यदि परब्रह्मश्रीकृष्ण सर्वोत्कृष्ट हैं तो उनकी सेवा भी सर्वोत्कृष्ट है, यह निष्कर्ष कह दिया।

अतः परमवान्तरप्रमेयनिष्कर्षं वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति कृष्णशब्देनेत्यादि । निरूपितमिति । मुख्यप्रमेयत्वेन फलत्वेन च निरूपितम् । निरूपयन्तीति । अवान्तरप्रमेयत्वेन निरूपयन्ति । व्याकुर्वन्ति तदित्यादि । तत् अक्षरं ब्रह्म द्विरूपम् । अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते, यत्तददृश्यमग्राह्यम् । 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि अस्थूलमनण्वि'त्यादिश्रुतिषु, 'अक्षरं ब्रह्म परम'मित्यादिस्मृतिषु च यदुक्तं, तत् द्विप्रकारकं कथमित्याकाङ्क्षायामाहुः तदेवेत्यादि । एकपदं देहलीदीपवदग्रिमेऽपि सम्बध्यत इत्याशयेनाहुः एकं रूपमित्यादि । अत्र पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वं 'तदक्षरे परमे व्योमन्नि'ति श्रुतौ, आदिपदोक्तं चरणादिरूपत्वं च 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'ति श्रुतौ स्फुटम् । शेषं 'त्वथ परे'त्युक्तश्रुतेर्ज्ञेयम् । तथाचैवं मूलयोजना । हि यतो हेतोः, सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणमेकमतो द्विरूपमिति ।

अब इसके पश्चात् प्रभुचरण अवान्तरप्रमेय(अक्षरब्रह्म) का निष्कर्ष कह रहे हैं और इस आशय से वे **कृष्णशब्देन** इत्यादि शब्दों से विवेचन कर रहे हैं। **निरूपितम्** इस पंक्ति का अर्थ है- पुरुषोत्तम का स्वरूप तो आचार्यचरण **कृष्ण** शब्द लिख कर मुख्यप्रमेय के रूप में एवं फलरूपतया निरूपित कर चुके हैं, अतः अब आपश्री अक्षरब्रह्म का निरूपण कर रहे हैं। प्रभुचरणों की इसी पंक्ति में आगे **निरूपयन्ति** शब्द का अर्थ है- अब आचार्यचरण ब्रह्म का अवान्तरप्रमेयस्वरूप निरूपित कर रहे हैं। उसी के स्वरूप का प्रभुचरणों ने **तत्** इत्यादि शब्दों से विवेचन किया है। **तत्** का अर्थ है- अक्षरब्रह्म; और अक्षरब्रह्म दो रूपों वाला है। "*अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते(मुण्डक-1/1/5)*","*एतद्वै तदक्षरं गार्गि(बृहदा-3/8/8)*" इत्यादि श्रुतियों में एवं

"*अक्षरं ब्रह्म परमं(भ0गी-8/3)*" इत्यादि स्मृतियों में जो अक्षरब्रह्म कहा गया है, वह दो प्रकार का किस ढंग से है- यह आकांक्षा होने पर आपश्री इसका स्पष्टीकरण **तदेव** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। मूलश्लोक में प्रयुक्त **एकं** शब्द देहलीदीपक की भाँति आगे के पद से भी सम्बन्धित है अर्थात् **सर्वं स्यात्** इन पदों से तो सम्बन्धित है ही, साथ ही साथ आगे के **तस्मात् विलक्षणम्** इन पदों से भी सम्बन्धित है- यही बात बताने के आशय से प्रभुचरणों ने **एकं रूपं** यह पंक्ति लिखी है। इस पंक्ति में आगे प्रभुचरणों ने जो अक्षरब्रह्म को पुरुषोत्तम का अधिष्ठानरूप बताया है, वह "*तदक्षरे परमे व्योमन्(महा0उप-1)*" इस श्रुति के आधार पर बताया है एवं **आदि** पद के द्वारा उसका पुरुषोत्तम का चरणरूप होना बताया है, यह समझना चाहिए जो कि "*ब्रह्म पुच्छं(तै0उप-2/1/3)*" इस श्रुति में स्पष्टतया वर्णित किया गया है। अक्षरब्रह्म के स्वरूप के सन्दर्भ में शेष बात "*त्वथ पर*" इस श्रुति द्वारा समझ लेनी चाहिए। उपर्युक्त विश्लेषणों के प्रकाश में मूलश्लोक को इस प्रकार से योजित करें- **हि** अर्थात् चूँकि सर्वरूप बन जाने के कारण अक्षरब्रह्म का एक रूप है और दूसरा रूप इससे विलक्षण/भिन्न है, अतः अक्षरब्रह्म के दो रूप सिद्ध होते हैं।

ननु रूपद्वयस्येतरेतरवैलक्षण्येन भेदे रूपिण ऐक्यं न प्रमातुं शक्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः नचेत्यादि, ब्रह्मणीत्यन्तम् । भेद इति, रूपिणो भेदः । अत्रेति, अस्मिन्मते । तथा च लोकतः प्रमातुमशक्यत्वेऽपि श्रुतितः प्रमातुं शक्यत इत्यर्थः ।

किन्तु शंका यह होती है कि, यदि अक्षरब्रह्म के उक्त दोनों रूप एक दूसरे से विलक्षण/भिन्न हैं, तो फिर स्वयं रूपी अक्षरब्रह्म अलग-अलग न होकर एक ही है, यह कैसे प्रमाणित किया जा सकता है- यह शंका होने पर इसका समाधान प्रभुचरणों ने **न च** इत्यादि शब्दों से लेकर **ब्रह्मणि** तक की पंक्ति द्वारा लिखा है। प्रभुचरणों के **न च विरुद्धधर्मैः भेदः अत्र शंकनीयः** इस पंक्ति में **'भेद'** शब्द से आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, अक्षरब्रह्म के दोनों स्वरूपों में विरुद्धधर्म होते होने पर भी रूपी अक्षरब्रह्म में भेद होना नहीं समझना चाहिए। **अत्र** का अर्थ है- जिस मत में अक्षरब्रह्म के दो स्वरूप बताए गए हैं, उस मत में ऊपर की गयी भेद होने की शंका नहीं करनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि लौकिकदृष्टि से अक्षरब्रह्म में दो विरुद्धधर्म होने की बात को प्रमाणित करना भले ही अशक्य हो, तथापि श्रुति द्वारा इसे अवश्य ही प्रमाणित किया जा सकता है- यह अर्थ है।

ननु लोकविरोधे श्रुतेः स्तावकत्वं कल्पनीयमित्यत आहुः इदं यथेत्यादि । श्रुतेः स्तुतिपरत्वमुपचारपरत्वं च वारयितुमेव ब्रह्मसूत्रप्रवृत्तेर्भाष्ये प्रतिपादितत्वात्तत्र स्तावकत्वादिकं न कल्पयितुं शक्यमित्यर्थः ।।३।।

किन्तु प्रश्न यह होता है कि, बात चूँकि लोक से विरुद्ध जा रही है, इसलिए श्रुति द्वारा ब्रह्म का इस प्रकार से वर्णन करने को श्रुति द्वारा की गयी ब्रह्म की केवल स्तुति/अर्थवाद/प्रशंसा ही क्यों न मान ली जाय !(श्रुति में ब्रह्मसंबंधी, यज्ञसंबंधी, पारलौकिकसंबंधी कई बातों को मात्र लोगों की रुचि बढ़ाने के उद्देश्य से कहा गया है। उदाहरण के रूप में जैसे श्रुति में यह कह दिया जाता है कि "स्वर्ग में अमृत प्राप्त होता है और अमृत पीने से अमर हो जाओगे", तो इसका ये तात्पर्य नहीं है कि जीवन कभी समाप्त होगा ही नहीं अपितु इसका तात्पर्य यह है कि, वर्तमान आयु की तुलना में अत्यधिक दीर्घकाल तक जीवन रहेगा। चूँकि अमृत स्वर्ग में मिलता है और स्वर्गप्राप्ति यज्ञ करने से होती है, इसलिए श्रुति लोगों को केवल यज्ञ करने की ओर प्रवृत्त करने के लिए ऐसा कहती है। इसे श्रुति की स्तुतिपरता या अर्थवाद कहा जाता है। पूर्वपक्षी का तर्क यह है कि, यदि श्रुति अक्षरब्रह्म में दो विरुद्धधर्म होने की बात कर रही है और यदि ये बात लोकप्रमाण से विरुद्ध जा रही है, तो इसे श्रुति द्वारा अक्षरब्रह्म की मात्र स्तुति ही समझ लेनी चाहिए और वास्तव में अक्षरब्रह्म में दो विरुद्धधर्म नहीं समझने चाहिए- इस शंका का स्पष्टीकरण श्रीपुरुषोत्तमचरण आगे दे रहे हैं)तो प्रभुचरणों ने इसका स्पष्टीकरण **इदम् यथा** इस पंक्ति से किया है। इस पंक्ति से आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि अमुक वचनों को श्रुति की स्तुतिपरता और अर्थवाद समझ लेने के अज्ञान का निवारण करने के लिए ही तो आचार्यचरण ब्रह्मसूत्र का भाष्य करने को प्रवृत्त हुए और इसका निवारण अपने भाष्य में प्रतिपादित किया है, अतः उपर्युक्त वचनों को श्रुति द्वारा की गयी मात्र स्तुति की कल्पना मान लेना शक्य नहीं है- यह अर्थ है ॥3॥

ननु 'एषाऽविद्या जगत्सर्व'मिति नृसिंहतापनीयवाक्यावलम्बनेन मायावादो, 'यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावत'इत्यादिवाक्यावलम्बनेन सांख्यादिवादः प्रवृत्त इति कथं तन्मूलश्रुतिविरोधपरिहार इत्याशंकायां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति विरोधपरीत्यादि । व्याकुर्वन्ति वेदेत्यादि । वादिनो बहुधा जगुरित्यर्थः । तथा च श्रुतितात्पर्यस्य तत्र प्रकारान्तरेण सत्त्वात्तेषां भिन्नत्वमित्यर्थः । तदेतद्बोधयितुं मतप्रणेतॄनाहुः मायिकमित्यादिना ।

मायिकमिति, मायोपादानकं सगुणेश्वरकर्तृकम् । एवमग्रेपि तत्तन्मतरीत्या बोध्यम् । सांख्यपदं पातञ्जलानामप्युपलक्षकम् । नैयायिकपदं च वैशेषिकानाम् । वेदबाह्यमतानीति चतुर्विधबौद्धार्हतलोकायतिकवामशाक्तादिमतानि । मूले इति नैकधेति । इतिः प्रकारे नैकधेति बहुधापदोक्तार्थस्य निगमनम् ।।४।।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि "एषाऽविद्या जगत्सर्वं" इस नृसिंहतापनीयवाक्य का आधार लेकर मायावाद स्थापित है एवं "*यस्तन्तुनाभ इव(श्वेताश्वतर-6/10)*" इत्यादि वाक्यों का आधार लेकर सांख्य जैसे वाद प्रवृत्त हुए हैं, तो फिर इन सभी वादों के मूल में रहने वाली श्रुतियों में परस्पर दिखाई देने वाले विरोधों का परिहार कैसे होगा ! ऐसी शंका होने पर इसका स्पष्टीकरण करने हेतु प्रभुचरणों ने आगे **विरोधपरिहाराय** यह पंक्ति लिखी है। वह विरोध किस प्रकार से है- यह बताने के लिए आपश्री ने **वेदमतादपरं** यह पंक्ति लिखी है। इसके द्वारा आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, प्रपञ्चरूप से आविर्भूत हुए अक्षरब्रह्म के संदर्भ में वादियों ने वेदमत से भिन्न जाने वाले अनेक अर्थ किए हैं। इसका अर्थ यह है कि, जिन श्रुतियों के आधार वादियों ने भिन्न-भिन्न मत स्थापित कर दिए, वहाँ श्रुतियों का तात्पर्य दूसरे प्रकार का था, जिसे न समझते हुए वादियों ने भिन्न-भिन्न मत स्थापित कर दिए। इस बात का बोध कराने के लिए प्रभुचरणों ने विभिन्न मतप्रणेताओं के बारे में **मायिकं** इत्यादि शब्दों से कहा है। उनमें से **मायिकं** का अर्थ है- इस जगत का उपादानकारण/मूलकारण माया है और इसे सगुण ईश्वर ने बनाया है। इसी प्रकार अन्य मतों के बारे में भी समझ लेना चाहिए। **सांख्य** पद से पतञ्जलियोगदर्शन भी समझ लेना चाहिए। **नैयायिक** पद द्वारा वैशेषिक भी समझ लेने चाहिए। और **वेदबाह्यमतानि** शब्द से प्रभुचरणों का तात्पर्य चतुर्विधबौद्ध, अर्हत, लोकायतिक, वाम, शाक्त इत्यादि भी हैं। मूलश्लोक में कहे **इति नैकधा** पदों में से **इति** पद से आचार्यचरणों का तात्पर्य 'प्रकार' से है और **नैकधा** पद से आपश्री का तात्पर्य इसी श्लोक में कहे **बहुधा** शब्द से है(अर्थात् आचार्यचरणों ने इस श्लोक के पहले चरण में जो यह कहा कि अन्य वादियों ने **बहुधा प्रकार** से ब्रह्म का स्वरूप बताया है, तो आपश्री दूसरे चरण में **नैकधा**(न+एकधा)पद से यही बताना चाह रहे हैं कि, वादियों ने **एक प्रकार** से नहीं अपितु **अनेक प्रकार** से ब्रह्म का स्वरूप बताया है अर्थात् **बहुधा** बताया है- यह अर्थ है)॥4॥

तर्हि तानि स्वमतबोधनाय तत्स्थापनाय च दूष्याणीत्याकाङ्क्षायामग्रिममवतारयन्ति तानीत्यादि । श्रुतिबलेन निराकृतानीति । श्रुतितात्पर्यप्रकाशनेन भाष्ये प्रपञ्चेन निराकृतानि । इदं यथा तथाविरोधाध्यायभाष्यप्रकाशादवगन्तव्यम् । व्याकुर्वन्ति स हैतावा'नित्यादि । अत्र प्रथमा श्रुतिर्बृहदारण्यके पुरुषविधब्राह्मणे । द्वितीया छान्दोग्ये शाण्डिल्यविद्यायाम् । आदिपदेन 'यथा प्रदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः, तथा अक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रवर्तन्ते । तत्र चैवापियन्ती'ति मुण्डकश्रुतिः संगृह्यते । तेन बह्वीषु श्रुतिष्वक्षरस्यैव प्रपञ्चप्रकारेण भवनस्य निरूपणात्, नृसिंहोत्तरतापनीयेऽप्युक्तवाक्योपसंहारे अविद्याया नानाविधक्षेत्रदर्शकत्वस्य परमात्मन एव जगद्योनित्वस्य च निगमनान्न श्रुतीनामितरेतरविरोध इति पूर्वोक्तं सर्वमक्षुण्णमित्यर्थः ।।४ $^{१}/_{२}$।।

यदि अन्य वादियों का मत वेदविरुद्ध ही है, तो फिर अपने मत का बोध कराने के लिए और अपने मत को स्थापित करने के लिए भी आचार्यचरणों को चाहिए था कि अन्य मतों में दूषण बताते- यदि किसी को ऐसा प्रश्न होता हो, तो प्रभुचरण आगे **तानि** इत्यादि वाक्यों से इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। प्रभुचरणों ने इसका स्पष्टीकरण देते हुए **तानि मतानि श्रुतिबलेन निराकृतानि** यों लिखा है अर्थात् आचार्यचरणों ने अपने भाष्य में श्रुतितात्पर्य को प्रकाशित करने के द्वारा उन सभी मतों का विस्तारपूर्वक निराकरण कर दिया है और यह सभी कुछ अविरोधाध्याय के भाष्यप्रकाश द्वारा समझ लेना चाहिए। जिन श्रुतियों के आधार पर आचार्यचरणों ने भाष्य में अन्य मतों का निराकरण किया है, उन श्रुतियों को प्रभुचरणों ने *'स हैतावानास'* इत्यादि नाम देकर बताया है। इनमें से पहली वाली श्रुति बृहदारण्यकोपनिषद् में पुरुषविधब्राह्मण की श्रुति है। दूसरी श्रुति छान्दोग्योपनिषद् के अंतर्गत शाण्डिल्यविद्या में कही गयी श्रुति है। **आदि** पद से प्रभुचरणों का तात्पर्य "*यथा प्रदीप्तात्पावकात्(मुण्डक-2/1/1)*" यह मुण्डकश्रुति भी है। इन सभी श्रुतिप्रमाणों से यह बात सिद्ध होती है कि, चूँकि अनेक श्रुतियों के अनुसार अक्षरब्रह्म ही प्रपञ्चरूप से बना है, साथ ही साथ ऊपर कही नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषद् की "*एषाऽविद्या जगत्सर्वं(यह समस्त जगत मायारूप है)*"इस श्रुति के भी उपसंहार में यही बताया गया है कि, अविद्या तो जगत के अनेक प्रकारों की केवल दर्शक मात्र ही है, जबकि जगत का मूलकारण तो

परमात्मा/अक्षरब्रह्म ही है, इसलिए इन सभी श्रुतियों का परस्पर एक दूसरे से कोई विरोध नहीं आता, अतः पूर्व में आचार्यचरणों ने जो यह कहा कि अक्षरब्रह्म ही प्रपञ्चरूप से आविर्भूत होता है- यह सिद्धान्त अक्षुण्ण बना रहता है, यह अर्थ है॥4 $^1/_2$॥

एवमवान्तरप्रमेयं निरूप्य तस्य बालबोधनार्थं सार्धकारिकया वैशद्यं कुर्वन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति एकस्यैवेत्यादि । व्याकुर्वन्ति प्रपञ्चेत्यादि । मूले चकारोऽनुक्तसमुच्चायक इत्याशयेनाहुः अस्तीत्यादि ।

इस प्रकार से अवान्तरप्रमेय(अक्षरब्रह्म) का निरूपण करके अब बालकों का प्रबोधन करने के लिए उसी निरूपण को आचार्यचरण डेढ़ कारिका द्वारा विस्तारपूर्वक कह रहे हैं- यह बात बताने के लिए प्रभुचरणों ने **एकस्यैव** यह वाली पंक्ति लिखी है। इस पंक्ति के आगे अक्षरब्रह्म के ही स्वरूप को प्रभुचरणों ने **प्रपञ्च** इस पंक्ति द्वारा लिखा है। मूलश्लोक(5वें एवं 6ठे श्लोक)में यद्यपि आचार्यचरणों ने ब्रह्म के तीन स्वरूप समझाने के लिए गंगा के तीन रूप नहीं बताए अपितु दो ही(आधिभौतिक और आध्यात्मिक ही)बताए हैं तथापि **च** शब्द के प्रयोग द्वारा यह समझ लेना चाहिए कि आपश्री ने तीसरा रूप भी बता दिया है- यह बात प्रभुचरणों को बतानी थी अतः इस आशय से ही आपश्री ने **अस्ति** से लेकर **बुध्यताम्** इस पंक्ति द्वारा गंगा के तीन रूप बताए हैं।

अग्रिमेति । माहात्म्यसंयुतेत्यादिग्रन्थेनोक्ता । तत्सत्त्वे मानमाहुः योद्धृतेत्यादि । उद्धृतजलाविशेषेऽपीति । प्रवाहादुद्धृतं यज्जलं तस्य प्रवाहजलादविशेषेऽपि प्रवाहजलसाम्येऽपि । तत्रैवेति । प्रवाह एव न तूद्धृतजले । तथा च यदि तीर्थरूपातिरिक्ता न स्यात्, तदा देशान्तर उद्धृतजलस्नानादिनापि तत्तीर्थस्नानफलं स्मर्येत, तत्तु न दृश्यत इति तीर्थरूपा जलरूपाद्भिन्नैवेत्यर्थः । दार्ष्टान्तिके सङ्गमयन्ति एवमेवेत्यादि । प्रपञ्चतद्भिन्नरूपमिति । प्रपञ्चश्च तद्भिन्नं च प्रपञ्चतद्भिन्ने ते रूपे यस्य तत् ।

अग्रिमा इस पंक्ति द्वारा प्रभुचरणों ने गंगा के दूसरे स्वरूप यानि कि तीर्थरूपा गंगा के बारे में बताया है, जिस स्वरूप के बारे में आचार्यचरणों ने **माहात्म्यसंयुता** इत्यादि पदों से कहा है। गंगा का एक स्वरूप तीर्थरूप भी है, इसका प्रमाण प्रभुचरण आगे **योद्धृतजले** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। इस पंक्ति में **उद्धृतजलाविशेषेऽपि** इत्यादि शब्दों से प्रभुचरणों को यह बात समझानी है कि, गंगा के प्रवाह से उद्धृत किया गया जल(उदाहरण के तौर पर लोटे में भरकर लाया गया जल)यद्यपि गंगाप्रवाह से भिन्न नहीं होता यानि गंगा के प्रवाहितजल के समान ही होता है, फिर भी **तत्रैव** यानि प्रवाहितजल में ही स्नानपूजा का फल प्राप्त हो सकता है, लोटे में भरकर लाए जल द्वारा नहीं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि गंगा की उक्तप्रकारक अतिरिक्तरूप से तीर्थरूपता न होती, तो लोटे में भरकर लाए गए गंगाजल द्वारा अन्य स्थलों में भी गंगा के तीर्थस्नान का फल प्राप्त होना सुना गया होता ! परन्तु ऐसा कहीं भी देखा सुना नहीं गया अतः तीर्थरूपागंगा जलरूपागंगा से भिन्न ही है- यह अर्थ है। अब यही उदाहरण ब्रह्म के संग किस प्रकार से बैठता है, यह प्रभुचरणों ने **एवमेव** इस पंक्ति द्वारा कहा है। इस पंक्ति में **प्रपञ्चतद्भिन्नरूपं** का अर्थ है- एक प्रपञ्च, और दूसरा प्रपञ्च से भिन्न; यों दो रूप हैं जिसके वह है- अक्षरब्रह्म।

(न चात्र बहुव्रीहिणा रूपिणस्तृतीयत्वं शंक्यम् । एकादशव्यूहो रुद्र इतिवत्तदुपपत्तेः ।)

प्रपञ्चतद्भिन्नरूपं शब्द में बहुव्रीहिसमास समझकर यों न समझ बैठें कि इससे प्रभुचरण अक्षरब्रह्म का कोई तीसरा रूप बता रहे हैं, अपितु जिस प्रकार रुद्र का स्वरूप समझाने के लिए "*एकादशव्यूह जिसके हैं, वह रुद्र है*" यों समझाया जाता है, उसी प्रकार यहाँ **प्रपञ्चतद्भिन्नरूपं** शब्द द्वारा अक्षरब्रह्म के लिए भी यही समझना चाहिए कि अक्षरब्रह्म के ही दो रूप बताए जा रहे हैं, दो रूपों के माध्यम से अक्षरब्रह्म का कोई तीसरा रूप नहीं।

तथा बुध्यतामिति । वृद्धिह्रासभाक्त्वतद्राहित्यपूर्वकमाहात्म्ययुक्तत्वाभ्यां बुध्यताम् । तथा चाक्षरोपासनया यत्फलम्, न तत्प्रपञ्चोपासनयेति तयोरैक्येप्येवं भेद इत्यर्थः । मूले सेवतामिति शतुरनुदात्तेल्लक्षणस्यात्मनेपदस्य चक्षिङो ङित्करणाज्ज्ञापकादनित्यत्वेन बोध्यः । 'त्वां सेवतां सुरकृता बहवोन्तराया' इत्यादिपुराणप्रयोगाच्च ।।५,६।।

प्रभुचरण **तथा बुध्यताम्** इस पंक्ति से यह कहना चाह रहे हैं कि, जिस प्रकार गंगा का एक जलरूप जो घटता बढ़ता रहता है और दूसरा तीर्थरूप जो घटता बढ़ता नहीं अपितु जो माहात्म्ययुक्त है, इन दो रूपों की भाँति अक्षरब्रह्म के भी दो रूप होने जान लेने चाहिए। इसका फलितार्थ यह हुआ कि अक्षरब्रह्म की उपासना करने पर जो फल प्राप्त होता है, वह फल प्रपञ्च की उपासना करने से प्राप्त नहीं होता- इस प्रकार से अक्षरब्रह्म और प्रपञ्च दोनों एक होने पर भी इनमें इस प्रकार से भेद है।

मूलकारिका में आचार्यचरणों ने 'सेवताम्' पद दिया है; यों तो 'सेवताम्' पद के स्थान पर शानच् प्रत्यययुक्त 'सेवमानानाम्' शब्द होना चाहिए था, परन्तु अनुदात्तेत्वलक्षण आत्मनेपद अनित्य होता है, अर्थात् सर्वत्र लागू होना अनिवार्य नहीं होता अतः शानच् प्रत्यय न शतृ-प्रत्यय करके 'सेवताम्' शब्द बना लिया गया है, जो कि उचित ही है। इसी ढंग से "त्वां सेवताम् सुरकृता(श्री0भा-11/4/10)" इत्यादि पुराणवाक्यों में इसप्रकारक शब्द का प्रयोग होता देखा गया है ॥5,6॥

एवमवान्तरप्रमेयरूपमक्षरं दृष्टान्तेन बोधयित्वा मुख्यप्रमेयस्य पुरुषोत्तमस्य कृष्णस्य सर्वसामर्थ्यं सर्वत्र व्याप्तिं च बोधयितुं सपादकारिकां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति आधिदैविकमित्यादि । व्याकुर्वन्ति उक्तेत्यादि । प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थ इत्यन्तम् । अनेन व्याप्तिरुक्ता । तत्र प्रमाणमिति । प्रवाहतीर्थातिरिक्तदेवतासत्त्वे प्रमाणम् । मूर्तिरिति । भीष्मादिमातृत्वेन भगीरथदृष्टत्वादिना पुराणप्रसिद्धशरीरयुक्ता । तेन शब्दः प्रमाणमित्युक्तम् ।

इस प्रकार से अवान्तरप्रमेय अक्षरब्रह्म का गंगादृष्टान्त के द्वारा बोध करा के मुख्यप्रमेय पुरुषोत्तमकृष्ण की सर्वसामर्थ्य एवं उनकी व्यापकता का बोध कराने के लिए आचार्यचरणों ने पादसहित कारिका(सवा कारिका, अर्थात् **तत्रैव देवतामूर्तिः** से लेकर **न सर्वेषां** तक)लिखी है- यह बात बताने के आशय से प्रभुचरणों ने **आधिदैविकं रूपमाहुः** यह लिखा है। इसी मुद्दे का विवेचन करने के लिए प्रभुचरणों ने **उक्तद्विरूपायां** से लेकर **प्रत्यक्षा भवतीत्यर्थः** तक की पंक्तियाँ लिखी हैं। इस विवेचन द्वारा प्रभुचरणों ने पुरुषोत्तमकृष्ण की व्यापकता बतायी है(व्यापकता यों कि जिस प्रकार गंगा के प्रवाहित होते संपूर्ण जल में गंगा की तीर्थरूपता व्याप्त है, यानि गंगाजल में कहीं भी स्नान करने से गंगास्नान का फल प्राप्त होता है और उसी प्रवाह में सर्वत्र गंगा का आधिदैविक देवीरूप भी व्याप्त है; ठीक उसी प्रकार सर्वत्र प्रपञ्च/जगत में भगवानपुरुषोत्तम व्याप्त हैं- यह अर्थ है)। **तत्र प्रमाणम्** इस पंक्ति का अर्थ है- प्रवाहरूपा गंगा एवं तीर्थरूपा गंगा के अतिरिक्त गंगा का देवतारूप भी है, इसमें क्या प्रमाण है ? तो इसका प्रमाण आपश्री ने **मूर्तिरिति** इत्यादि शब्दों द्वारा लिखा है। गंगा को मूर्तिमती कहने के द्वारा आपश्री भीष्म इत्यादि की माता के रूपवाली एवं भगीरथ को दर्शन देने वाली शरीरयुक्त देवीगंगा का प्रमाण दे रहे हैं, जिसकी कथा पुराणों में प्रसिद्ध है। इसके द्वारा प्रभुचरणों ने गंगा का मूर्तिरूप या देवीरूप होने में शब्दप्रमाण दिया है।

प्रत्यक्षविशेषस्यापि तत्र प्रामाण्यमाहुः भक्त्येत्यादि (अयमर्थः । अंशुमद्दिलीपाभ्यां बहुकालं तपःकरणेपि गङ्गा न प्रत्यक्षाऽभूत् । भगीरथस्य तु प्रत्यक्षा प्रसन्ना वरदास्मीत्युवाचेति भगीरथतपसि भक्तिविशेषसाहित्यमेव सुमहवत्सु महत्वम् । अत एव ब्रह्मवैवर्तखण्डे 'भगीरथस्त्वस्य पुत्रो महाभागवतः सुधीः । वैष्णवो विष्णुभक्तश्चे'ति विशेषणमुक्तम् । तस्य च तपस्यत एव प्रकटा बभूव । अतोऽन्यत्रापि तथेत्यर्थः ।)

शब्दप्रमाण के अतिरिक्त गंगा का देवी के रूप में प्रत्यक्ष दर्शन करने वाले भक्त द्वारा भी देवीरूपा गंगा की प्रत्यक्षप्रामाणिकता सिद्ध होती है अतः प्रभुचरणों ने इस बात को **भक्त्या** इत्यादि शब्दों द्वारा बताया है। इसका अर्थ यह है कि भगीरथ के पूर्वज अंशुमान एवं दिलीप के बहुत समय तक तप करने के उपरान्त भी गंगा उनके सामने प्रत्यक्ष नहीं हुई किन्तु भगीरथ की तपस्या से तो प्रत्यक्ष भी हुई एवं प्रसन्न होकर वर देने के लिए भी कहा अतः भगीरथ की तपस्या विशेष भक्तिसहित तपस्या थी, जिस कारण उसका तेज उसके पूर्वजों की तुलना में और अधिक महान था। इसी कारण ब्रह्मवैवर्तखंड में भगीरथ के लिए *"भगीरथस्त्वस्य पुत्रो महाभागवतः सुधीः"* ऐसा वाक्य प्राप्त होता है। इस कारण भगीरथ के ही तप से गंगा प्रकट हुई। इसलिए यदि कोई भगीरथ की भाँति तपस्या करे, तो गंगा अन्यत्र भी देवीरूप से प्रकट हो सकती है।

मूले भक्तिपदमात्रकथनात्क्वचित्पद उद्रेकदशारूपविशेषबोधनमयुक्तमिवाभातीत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि ।

प्रभुचरणों ने **प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां** इन पदों का दूसरे प्रकार से भी अर्थ क्यों किया, इसका कारण पुरुषोत्तमचरण आगे बता रहे हैं। मूलश्लोक में चूँकि आचार्यचरणों ने **भक्त्या** शब्द द्वारा गंगा के देवीरूप से प्रकट होने में केवल भक्ति को ही कारण बताया है और प्रभुचरणों ने इसकी व्याख्या करते हुए यह लिखा कि भक्ति की किसी उद्रेग वाली दशा में ही गंगा देवीरूप से दर्शन देती है; किन्तु फिर बाद में प्रभुचरणों को 'क्वचित्' पद का अर्थ *'भक्ति की किसी उद्रेग वाली दशा में ही गंगा देवीरूप से दर्शन देती है'* इस प्रकार से करना कुछ अयुक्त जैसा लगा और इसीलिए रुचिकर नहीं लगा इसलिए आपश्री ने **अथवा** शब्द द्वारा इसका दूसरा पक्ष करके यह लिखा कि, केवल तीर्थ पर ही नहीं अपितु यदि मन में सच्ची भक्ति हो तो घर इत्यादि स्थलों पर भी देवीरूपा गंगा के दर्शन हो सकते हैं। **क्वचित्** शब्द का अर्थ कालवाची भी होता है और स्थानवाची भी। प्रभुचरणों ने पहले तो **क्वचित्** पद का अर्थ कालवाची किया परन्तु बाद में आपश्री को इसमें रुचि नहीं

आयी सो तत्पश्चात् स्थानवाची अर्थ भी किया- यह कहना चाह रहे हैं।

ननु यदि गृहादिष्वपि गङ्गादर्शनं भक्त्यैव स्यात्, सर्वेषां भक्तानां स्यात्, तत्तु नेति कथमेवमित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति **भक्तविशेष** इत्यादि । व्याकुर्वन्ति **देवतेत्यादि** । **प्रवाहमध्य एवेति** । प्रवाहसंबन्धिन्येव गङ्गाद्वारादिरूपे क्वचिद्देशे । **मूले गङ्गायां चेति** । **चोऽवधारणे** ।

किन्तु ऐसा अर्थ करने में शंका यह होती है कि, यदि घर इत्यादि स्थलों पर भी गंगादेवी के दर्शन भक्ति द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं, तब तो सभी भक्तों को दर्शन होने चाहिए !! परन्तु ऐसा होता तो नहीं, फिर प्रभुचरण ऐसा किस आधार पर कह रहे हैं- तो आपश्री ने इसका स्पष्टीकरण आगे **भक्तविशेष** इत्यादि पदों से लिखा है, अर्थात् सभी भक्तों को नहीं अपितु किसी विशेषभक्त को ही इसप्रकारक देवीगंगा के दर्शन होते हैं। इसी बात का व्याख्यान आपश्री ने इसके आगे की पंक्ति में **देवतारूपायां** इस शब्द द्वारा लिखा है। इस पंक्ति में **प्रवाहमध्ये** पद का अर्थ है- जिस स्थल पर गंगा का प्रवाह बहता हो, उन्हीं स्थलों पर गंगा प्रत्यक्षरूप से प्रकट होती है, जैसे कि हरिद्वार इत्यादि स्थलों पर। मूलश्लोक के **गंगायां च** इन पदों में च शब्द इस श्लोक में कहे अर्थ की निश्चितता बताने के लिए प्रयुक्त हुआ है।

विशेषपदस्यार्थष्टीकायां **भक्त्युद्रेकपदेन** विवृतोवगन्तव्यः । एतावत्कथनप्रयोजनमाहुः **एतेनेत्यादि** । **एतेनेति** । भौतिक्यां गङ्गायामेवमाधिदैविकगङ्गास्वरूपप्राकट्यबोधनेन । **तत्रेति** । भगवदाकारे भगवद्भक्ते च ।

मूलश्लोक के **विशेषेण** पद का अर्थ प्रभुचरणों ने **भक्त्युद्रेग** इस वाली पंक्ति द्वारा किया है, यह समझना चाहिए। प्रभुचरणों ने जिस प्रयोजन से यहाँ तक का व्याख्यान किया है, उसे आपश्री ने **एतेन** इस वाली पंक्ति द्वारा लिखा है अर्थात् भक्ति से ही आधिदैविकस्वरूप के दर्शन हो सकते हैं, इस संदर्भ में अब तक की जितनी बातें श्रीप्रभुचरण कह आए हैं, वे किस प्रयोजन से कहीं हैं, उसे आपश्री ने **एतेन** इस पंक्ति में कहा है- यह अर्थ है। इस पंक्ति से प्रभुचरणों का तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार भौतिकजलरूपा गंगा में ही आधिदैविकी देवीरूपा गंगा का स्वरूप प्रकट होता है; ठीक उसी प्रकार भक्त के लिए इस प्रपञ्च में ही भक्तस्वरूप या भगवद्भक्त में अभेदबुद्धि(एक समान मानने की बुद्धि)रखने से भगवान का प्राकट्य होता है। इस पंक्ति में **तत्र** शब्द का अर्थ है- भगवत्स्वरूप एवं भगवद्भक्त में।

अग्रिमव्यवस्थामिति । आधिदैविकरूपस्थितिकार्यम् । **प्राकाम्यमिति** । प्राकाम्यं बाहुल्यम् । 'प्रकामसुभगत्वद्गात्रसंश्लेषत' इत्यादिप्रयोगदर्शनात् । तदत्र किं विवक्षितमित्याकाङ्क्षायां विवृण्वन्ति **स्वाभीष्टेत्यादि** । तथा च तादृग्भक्तप्रत्यक्षया **तया** गङ्गया कृत्वा तज्जले भक्तस्यानिषिद्धव्यवहारबाहुल्यरूपं प्राकाम्यं स्यादित्यर्थः । एतत्कथनप्रयोजनमाहुः **एवमित्यादि** ।

अब गंगा के आधिदैविकस्वरूप को गंगा में स्थित जान लेने के पश्चात् भक्त क्या करता है, इसकी अग्रिमव्यवस्था आचार्यचरणों ने **प्राकाम्यं** पद के द्वारा बतायी है। **प्राकाम्यं** का अर्थ है- बहुलता। क्योंकि *"प्रकामसुभगत्वद्गात्रसंश्लेषत"* इत्यादि वाक्यों में 'प्राकाम्य' शब्द का प्रयोग बहुलता के अर्थ में किया गया है। आचार्यचरण **प्राकाम्यं** पद से क्या कहना चाह रहे हैं, इसका विवरण प्रभुचरणों ने **स्वाभीष्ट** इस वाली पंक्ति में लिखा है। इस पंक्ति से प्रभुचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि जिसे गंगा के जल में देवीरूपा गंगा के दर्शन हो चुके होते हैं, ऐसा भक्त फिर गंगाजल के प्रति कोई भी निषिद्धव्यवहार नहीं करता अपितु बहुलता से(स्नान-पान-आचमन-पूजन-अर्चन आदि)अनिषिद्धप्रकार से व्यवहार करने लगता है अर्थात् देवीरूपा गंगा के दर्शन हो जाने के पश्चात् वह भक्त गंगा के जल को मात्र भौतिकजल न समझकर उसे देवीरूपा गंगा ही मानकर समस्त व्यवहार करने लगता है, वस्त्रप्रक्षालन इत्यादि निषिद्धव्यवहार नहीं करता। प्रभुचरणों ने ऐसा विवेचन क्यों किया इसका प्रयोजन आपश्री ने **एवमेव** इस पंक्ति में लिखा है कि ठीक इसी प्रकार भगवान के दर्शन हो जाने के पश्चात् भक्त को सर्वत्र जड़-चेतन पदार्थों में भगवद्भाव ही प्रतीत होना आरम्भ हो जाता है एवं वह संपूर्ण प्रपञ्च को भगवद्रूप की दृष्टि से देखने लगता है।

अग्रिमार्धं व्याकुर्वन्ति **भक्त्येत्यादि** । तथा चैवं भगवतः कृष्णस्य साक्षात्कारानन्तरं ज्ञानिफलान्मोक्षादपि प्रपञ्चे सर्वत्र भगवदधिष्ठानत्वरूपेण ज्ञानं विशिष्यत इति भावः । **मूले चोप्यर्थे** । **तदिति**, गङ्गादर्शनम् । **हिर्निश्चये** ।

प्राकाम्यं स्यात्तया जले पदों के आगे की पंक्ति **विहिताच्च फलात्तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते** इस कारिका का व्याख्यान प्रभुचरणों ने **भक्त्या** इत्यादि शब्दों से किया है। इस पंक्ति से आपश्री का तात्पर्य यह कि, जिस प्रकार देवीरूपा गंगा के

दर्शन हो जाने के पश्चात् गंगा के भक्त को गंगा के संपूर्ण प्रवाहितजल में देवीगंगा के दर्शन होने लगते हैं, उसी प्रकार से भगवानकृष्ण का साक्षात्कार हो जाने के अनन्तर ज्ञानियों को प्राप्त होने वाले मोक्षफल से भी अधिक विशिष्टफल उसे प्राप्त होता है अर्थात् विशिष्टफल यह कि सर्वत्र प्रपञ्च/अक्षरब्रह्म को भगवान के अधिष्ठान समझ जाने का विशिष्टज्ञान उसे होता है**(अर्थात् भक्त को प्राप्त होने वाला फल ज्ञानी को प्राप्त होने वाले फल से विशिष्ट इस प्रकार से कि, ज्ञानी को तो मोक्ष प्राप्त होता है और वह अक्षरब्रह्म में मिल जाता है, उसकी सत्ता भी नहीं रहती, जबकि भक्त की सत्ता भी बनी रहती है और वह किसी एक स्थान में नहीं अपितु जड़-चेतन सर्वत्र भगवान के दर्शन करता है)**- यह भाव है। मूलश्लोक में **विहिताच्च फलात् तत् हि प्रतीत्यापि विशिष्यते** इस कारिका में **च** शब्द **अपि(भी)**के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अर्थात् गंगा के प्रत्यक्ष दर्शन कर लेने वाले भक्त को विहितफल से भी अधिक फल प्राप्त होता है। और तत् शब्द का अर्थ है- गंगादर्शन। **हि** निश्चय अर्थ में है।

यथातथापदयोरध्याहारः । तथा च हि निश्चयेन तत्तादृशभक्त्या गङ्गादर्शनम् विहितादपि फलात्प्रतीत्यापि यथा विशिष्यते, तथा तया जले प्राकाम्यं स्यादिति मूलयोजना ।

(अ)इस कारिका में 'यथा' और 'तथा' पद को जोड़कर अर्थ करना चाहिए, तब इसका अर्थ स्पष्ट होगा। वह इस प्रकार कि ऐसी भक्ति द्वारा निश्चितरूप से गंगादर्शन होने जिस प्रकार(**यथा**)उस भक्त के लिए गंगा के विहितफल से भी विशिष्ट प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार(**तथा**)आधिदैविकस्वरूप के दर्शन किए होने के कारण फिर गंगा के जल के लिए भी उसका प्राकाम्य(**अनिषिद्धव्यवहार करना**)सिद्ध हो जाता है।

अस्मिन् व्याख्यानेऽध्याहारादिदोषादरुच्या प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति यद्वेत्यादि । अस्मिन्पक्षे प्राकाम्यं नाम प्रकृष्टः कामः प्रकामस्तस्य कर्म । 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि चे'त्यनेन 'भावे कर्मणि चे' त्यर्थद्वयेऽनुशासनादत्र कर्मणि ष्यञ् । तदेव विवृतं प्रकृष्टेत्यादिना । तथाच यथा तयैवं तथा प्रपञ्चेपि यत्र भगवत्सम्बन्धानुभवः, तत्र भगवत्स्वरूपे गुर्वादौ च श्रद्धापूर्वको व्यवहारः श्रद्धालूनामिति भावः ।

चूँकि प्रभुचरणों को अपने इस व्याख्यान में यथा-तथा का अध्याहार करने आदि दोष दिखाई दिए इसलिए आपश्री को इस व्याख्यान में अरुचि हुई और फिर 'प्राकाम्य' शब्द का ही आपश्री ने **यद्वा** कह कर दूसरा पक्ष करके विवेचन किया। ऊपर वाले (अ) कोष्ठक में यथा-तथा का अध्याहार करने का दोष तो दिखाई दिया ही साथ ही साथ उसमें 'प्राकाम्य(अनिषिद्धव्यवहार)' शब्द का अर्थ करने पर ऐसा अन्यथा अर्थ भी ध्वनित होता है कि, जब तक भक्त को देवीगंगा के आधिदैविकस्वरूप के दर्शन नहीं होते उस अवस्था तक तो उसका गंगाजल के प्रति प्राकाम्य सिद्ध होगा ही नहीं अथवा यों कहें कि तब तक तो वह निषिद्धव्यवहार ही करता रहेगा। इसलिए प्रभुचरणों को लगा कि कहीं ऐसा अन्यथा अर्थ न ले लिया जाय इसलिए आपश्री ने 'प्राकाम्य' शब्द का दूसरे प्रकार से भी अर्थ करके ये कहा कि जिसको गंगा के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुए हैं ऐसे भक्त को भी कम से कम इतना तो भान अवश्य होता ही है कि गंगा का जल देवीगंगा का आधिभौतिकस्वरूप या उसका अधिष्ठानभूत है; अतः वह गंगाजल के प्रति श्रद्धापूर्वक स्नान-पान-आचमन इत्यादि उत्तम/श्रेष्ठ कर्म करने लगता है और यही 'प्राकाम्य' शब्द का अर्थ है- ऐसा श्रीपुरुषोत्तमचरण कहना चाह रहे हैं। दूसरा पक्ष करने पर **प्राकाम्यं** शब्द का अर्थ होगा- 'प्रकृष्ट काम' अर्थात् उत्तम कर्म, श्रेष्ठ कर्म।(उत्तम या श्रेष्ठ कर्म से तात्पर्य है विधिरूप से शास्त्रों में बताए गए कर्म)। इसी पक्ष की विवेचना आपश्री ने **प्रकृष्ट** इत्यादि पदों से की है। इस पंक्ति से आपश्री का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भक्त गंगा के संपूर्णजल को गंगारूप मानते हुए श्रद्धापूर्वक व्यवहार करता है, उसी प्रकार इस प्रपञ्च में भी भगवत्सम्बन्धित वस्तुओं में जहाँ पर भी भगवत्सम्बन्ध का अनुभव होता है वहाँ पर अर्थात् भगवत्स्वरूप में, गुरु आदि महापुरुषों में जहाँ पर भी भगवत्सम्बन्ध का अनुभव होता है, वहाँ श्रद्धालुओं का उनके प्रति श्रद्धापूर्वक व्यवहार होने लगता है- यह भाव है।

अग्रिमं विवृण्वन्ति किञ्चेत्यादि । दार्ष्टान्तिके योजयन्ति एवमित्यादि । अत्र प्रमाणमाहुः अत एवेत्यादि । अन्येभ्यो भगवदीयानामाधिक्यादेवैकादशस्कन्धे स्वचिह्नस्वभक्तयोर्दर्शनादिकं भक्तिकारणमध्ये गणितम्, अतस्तथेत्यर्थः ।

श्लोक के अग्रिम पदों का विवेचन प्रभुचरणों ने **किञ्च** इत्यादि शब्दों द्वारा लिखा है। जो बात आपश्री ने **किञ्च** वाली पंक्ति में उदाहरण देकर कही, उसी उदाहरण को आपश्री ने **एवं येषां हृदि** इस पंक्ति में दार्ष्टान्त(ब्रह्म)के साथ जोड़कर कहा है। इस कथन में प्रमाण आपश्री ने **अतएव** इस पंक्ति द्वारा दिया है, जिसका अर्थ है- अन्य दूसरों की तुलना में भगवान के लिए

भगवदीयों का अधिक महत्व है, इसलिए एकादशस्कन्ध में भगवान ने अपने चिन्ह एवं भक्तजनों के दर्शन करने आदि को भक्ति उत्पन्न होने के कारणों के अंतर्गत गिना है, अतः प्रभुचरणों ने **एवं येषां** इस पंक्ति द्वारा यह लिखा कि- जिनके हृदय में भगवान का सान्निध्य है, वे भक्त अन्य दूसरों लोगों से विशिष्ट होते हैं।

एवं बालान् यत् बोधयितुं दृष्टान्त उक्तो 'द्विरूपं चापी'त्यादिना, तत्र तत्तत्कार्यप्रयोजकता न तयो:, किन्त्वाधिदैविकस्यैवेति बोधितम् । तदेतन्निगमयन्ति मूले यथा जलमित्यादिपादत्रयेण । मूले सर्वमिति, प्रपञ्चः । शक्तेति, समर्था । देवीति, मूर्तिमत्याधिदैविकी । तथा च दृष्टगङ्गाकानां यथा जले तत्स्थानत्वज्ञानादनिषिद्धयथेष्टव्यवहार:, यथा च तीर्थदर्शनेऽन्यस्मादाधिक्यज्ञानविशेषो जलेन तीर्थरूपेण च भवति, तथा दृष्टभगवत्कानां भगवत्स्वरूपगुर्वादिभि: सर्वत्र प्रपञ्चे प्राणिमात्रे भगवद्भावस्फूर्ति:, अक्षरेण च ज्ञानिमोक्षादप्यधिकभगवद्धामत्वादिरूपाक्षरज्ञानात्मकं फलं भवति । अदृष्टगङ्गाकानां च श्रद्धालूनां यथा जलेन श्रद्धापूर्वक: स्नानादिव्यवहार:, तीर्थेन च जलेऽन्येभ्य आधिक्यज्ञानं फलं क्रमेण भवति, तथैवादृष्टभगवत्कानां श्रद्धालूनां भगवत्स्वरूपादौ श्रद्धापूर्वक: सेवादिव्यवहार:, अक्षरे च ज्ञानिमोक्षादाधिक्येन भगद्धामत्वस्य परोक्षज्ञानं भवतीत्यर्थ: संपद्यते ।

इस प्रकार से बालकों को बोध कराने के हेतु से आचार्यचरणों ने **द्विरूपं चापि** इत्यादि पदों से जो दृष्टान्त दिया था, उसमें आपश्री- अक्षरब्रह्म के दोनों रूप जो-जो कार्य करते हैं, उन कार्यों के प्रयोजक वे नहीं है, किन्तु आधिदैविकस्वरूप ही है- यह बताना चाह रहे हैं। उसी बात को आचार्यचरणों ने मूल में **यथा जलम्** इत्यादि तीन चरणों द्वारा बताया है। वहाँ **सर्वं** का अर्थ है- प्रपञ्च। **शक्ता** का अर्थ है- समर्थ। **देवी** का अर्थ है- मूर्तिमती आधिदैविकी गंगा। इन सभी का अर्थ यह हुआ कि, जो देवीरूपा गंगा के दर्शन कर चुके हैं, वे जिस प्रकार से गंगा के जल में गंगा का स्थान समझ जाने के पश्चात् गंगाजल के संग अनिषिद्धव्यवहार(वस्त्र धोना, प्रक्षालन आदि न करना)/यथेष्टव्यवहार(अर्थात् भक्तोचित व्यवहार। अर्थात् स्नान-पान-पूजा-अर्चन-पूज्य व्यवहार। इसका तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार से भगवत्स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भगवत्स्वरूपसम्बन्धी जल, माला, वस्त्र इत्यादि के संग भी अलौकिकव्यवहार किया जाने लगता है, उस प्रकार से गंगाजल के प्रति भी अलौकिकव्यवहार होने लगता है)करने लगते हैं और जब वे गंगातीर्थ के दर्शन करते हैं, तो गंगा का तीर्थस्थान एवं गंगा का जल उन्हें अन्यों की तुलना में अधिक विशिष्ट लगने लगता है; ठीक उसी प्रकार जिसको भगवान के दर्शन हो चुके होते हैं, उसे भगवत्स्वरूप, गुरु आदि महापुरुषों में सर्वत्र प्रपञ्च में यानि प्राणिमात्र में भगवद्भाव की स्फूर्ति होने लगती है और अक्षरब्रह्म में उन्हें ज्ञानियों को मिलने वाले मोक्षफल से भी बढ़कर अक्षरब्रह्म को भगवद्धाम समझने का फल प्राप्त होता है। और जिन श्रद्धालुओं को गंगा के दर्शन नहीं हुए होते हैं, वे जिस प्रकार से गंगाजल के संग श्रद्धापूर्वक स्नानपूजा इत्यादि व्यवहार करते हैं एवं क्रमशः तीर्थजल को भी अन्यों से विशिष्ट समझने रूपी परोक्षज्ञान उनमें उत्पन्न होता है, ठीक उसी प्रकार यह समझना चाहिए कि जिनको भगवद्दर्शन हुए नहीं होते हैं, ऐसे श्रद्धालु श्रद्धापूर्वक भगवत्स्वरूप की सेवा इत्यादि व्यवहार करने लगते हैं। एवं, अक्षरब्रह्म ज्ञानियों के मोक्षस्थान से बढ़कर भगवद्धाम है- ऐसा परोक्षज्ञान उत्पन्न होता है- यह अर्थ सम्पन्न होता है। जिसको दर्शन हो चुके हैं उसको तो स्पष्ट स्फूर्ति या अनुभूति होने लगती है और जिसको दर्शन नहीं हुए होते है, उसे केवल परोक्षज्ञान होता है। परोक्षज्ञान होने का अर्थ है- स्वरूपज्ञान तो हो गया परन्तु अनुभूति नहीं हुई है।

ननु 'आध्यात्मिकस्तु य: प्रोक्त' इति द्वितीयस्कन्धवाक्ये एकस्यैवाधिभौतिकाभिमानेन तन्नियमनेन च यथायथमाध्यात्मिकत्वमाधिदैविकत्वं च सिद्धम्, न तु तयो: स्वरूपभेद इति कथमयं दृष्टान्त उपपद्यत इत्यत आहु: मूले तत्रापीत्यादि । तत्रापि आधिदैविकदृष्टान्तविचारेऽपि, एतद्वक्ष्यमाणं, इहास्मत्सिद्धान्ते, उच्यत इत्यर्थ: । एवं प्रतिज्ञाय तदाहु: जगदित्यादि । तदेतद्विवृण्वन्ति त्रिविधमित्यादिना । त्रिगुणात्मकमिति । 'आसीज्ज्ञानमयो ह्यर्थ' इत्येकादशस्कन्धीयचतुर्विंशे पञ्चमे सन्दर्भे भगवत्कार्यत्वेन सिद्धा: 'सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रय' इत्यत्र द्वितीयस्कन्धवाक्यसुबोधिन्यां सच्चिदानन्दमूलत्वेन ये व्याख्याता: सत्त्वादयो गुणास्तदात्मकम् ।

[किन्तु कोई पूर्वपक्षी यहाँ ये प्रश्न करता है कि, *"आध्यात्मिकस्तु यः प्रोक्तः"* इस द्वितीयस्कन्ध के वाक्यानुसार एक ही परमतत्त्व आधिभौतिकस्वरूप बन जाता है और उसका नियमन करने वाला आध्यात्मिकस्वरूप भी बन जाता है; अतः

एक ही परमतत्त्व आध्यात्मिकस्वरूप भी सिद्ध होता है और आधिदैविकस्वरूप भी सिद्ध होता है, अतः आध्यात्मिकस्वरूप एवं आधिदैविकस्वरूप में कोई भेद नहीं आता; इसलिए ब्रह्मस्वरूप को समझाने के लिए आचार्यचरणों द्वारा गंगा के तीन स्वरूपों का दृष्टान्त देना संगत नहीं होता क्योंकि उपर्युक्त श्रीभागवत के दृष्टान्तानुसार तो परमतत्त्व के स्वरूपों में परस्पर कोई भी भेद नहीं बताया गया है !] तो आचार्यचरणों द्वारा मूल में कहे **तत्रापि एतद् इह उच्यते** इत्यादि पदों से इसका स्पष्टीकरण होता है। पूर्वपक्षी का प्रश्न यह है कि, जब श्रीभागवत में ब्रह्म के स्वरूपों में परस्पर अभेद बताया गया है अर्थात् सभी स्वरूपों को एक ही स्वरूप बताया गया है, तो फिर आचार्यचरणों ने गंगा के तीन स्वरूपों के दृष्टान्त द्वारा ब्रह्म के तीन अलग-अलग स्वरूप क्यों बताए। श्रीपुरुषोतमचरण आगे यह बता रहे हैं कि आचार्यचरणों को गंगादृष्टान्त द्वारा ब्रह्म के अलग-अलग तीन स्वरूपों को समझाने की आवश्यकता क्यों पड़ी। आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि,आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि एतन्मार्ग के सिद्धान्तानुसार जगत अक्षरब्रह्मस्वरूप है और सत्त्वरजतम यों त्रिगुणात्मक है और ब्रह्माविष्णुशिव ये तीन देवता इसके नियामक हैं। श्रीपुरुषोत्तमचरणों का कहना यह है कि यदि आचार्यचरण गंगादृष्टान्त देकर ब्रह्म के तीन स्वरूपों को अलग-अलग करके न समझाते, तो जगत की त्रिगुणात्मकता एवं जगत के नियामक ब्रह्माविष्णुशिव इन तीन देवताओं की बात स्पष्ट न हो पाती, इसलिए आचार्यचरणों ने पृथक करके स्वरूपों को समझाया। साथ ही साथ, आगे श्रीपुरुषोतमचरण यह भी कहेंगे कि शास्त्रों में कहीं कहीं पर तो स्वरूपों में अभेद बताया जाता है और कहीं कहीं पर परस्पर भेद भी बताया जाता है। दोनों ही प्रकार का वर्णन शास्त्रों में आता है, इसलिए यदि आचार्यचरणों ने स्वरूपभेद करके ब्रह्मस्वरूप को बताया है, तो कोई इसमें कोई आपत्ति नहीं है। इसी का स्पष्टीकरण श्रीपुरुषोत्तमचरणों ने आगे लिखा है; जब स्पष्टीकरण पूर्ण होगा तब पुनः संकेत दिया जायेगा)। इससे आचार्यचरणों का कथन है- **तत्रापि** अर्थात् ब्रह्मस्वरूप को समझाने के लिए गंगा के आधिदैविकस्वरूप के दृष्टान्त का विचार कर लेने के उपरान्त भी ब्रह्म के आधिभौतिकस्वरूप को समझाने के लिए हमारे सिद्धान्तानुसार कुछ और कहना शेष रह जाता है, जो अब हम अभी आगे कह रहे हैं। इस प्रकार से कहते हुए आचार्यचरणों ने इसको **जगत्** इत्यादि शब्दों से कहा है और आचार्यचरणों की इसी बात का विवरण प्रभुचरणों ने **त्रिविधं** इत्यादि शब्दों से लिखा है। इस पंक्ति में जगत को **त्रिगुणात्मकम्(सत्त्व-रज-तम से युक्त)**कहने का अर्थ यह है कि "*आसीज्ज्ञानमयो ह्यर्थः(श्री0भा-11/24/2 से 5)*" इस एकादशस्कन्ध के 24वें और 25वें अध्याय में सत्त्व-रज-तम भगवान द्वारा प्रकट किए गए हैं, इस प्रकार से सिद्ध हुए हैं; एवं "*सत्त्वं रजस्तम(श्री0भा-2/5/18;2/10/41)*" इस द्वितीयस्कन्ध के वाक्य की सुबोधिनी में सच्चिदानन्द को सत्त्व-रज-तम का मूलरूप बताते हुए जिन सत्त्वरजतम गुणों की व्याख्या की गयी है, यह जगत वैसा सत्त्वरजतमगुणात्मक है।

तत्र गमकं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटमिति । 'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वा'दिति गीतोक्तलक्षणको यो बन्धकत्वस्वभावो गुणानां, तेन स्वभावेन प्रकटम् । मूले प्रोक्तमिति । भगवच्छास्त्रे, ब्रह्मसूत्रभाष्ये च । तेन हेतुना तत्तद्गुणनियामकत्वेन ब्रह्मादयो भगवता सर्वान्तर्यामिणा सर्वनियामकत्वेन कृताः । ततः तस्माज्जगत्त्रैविध्यादेव हेतोः देवतारूपवदाधिदैविकत्वेन कूर्मादौ 'लीलया परमेश्वरा' इत्येवं प्रोक्ताः । वस्तुतस्तु भगवानेक एव नियामक इत्यर्थः । तथा च तेषां गुणाभिमानित्वे 'गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात् । वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचर'मित्युक्तं कालभयम् । गुणावताराणां तु त्रिविधेषु पुराणेषु प्रकृतिपुरुषनियामकतया प्रसिद्धानां न तत् । ते गुणाभिमानितो भिन्ना एव । अतो यथा 'द्वा सुपर्णा' इत्यादौ जीवान्तर्यामिणोः क्वचिद्भेदः, क्वचिच्च 'तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभव'दिति प्रविष्टस्यैव कार्यभेदेन जीवान्तर्यामिभाव इति कल्पभेदेनोभयम्, तथा च यस्मिन्पक्षे भेदस्तं पक्षमादाय दृष्टान्त उपपद्यत इति भावः ।

इस बात का प्रमाण देने के लिए आपश्री ने जगत के लिए **त्रिस्वभावत्वेन प्रकटं** यों लिखा है। इस पंक्ति का अर्थ यह है कि, "*प्रकृति के सत्त्व-रज-तम ये तीन गुण जीवात्मा को बाँध देते हैं(भ0गी-14/5,6)*" इस गीतावाक्य में बताए लक्षण वाले वे गुण जिनका स्वभाव जीव को बाँध देना है, उस बंधकस्वभाव से युक्त होकर यह जगत प्रकट हुआ है। मूलश्लोक में जो **जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं** कहा गया है, उसमें **प्रोक्तं** का अर्थ यह है कि आचार्यचरणों ने जगत का जो स्वरूप बताया, वैसा स्वरूप श्रीभागवत एवं ब्रह्मसूत्रभाष्य में भी कहा गया है। इन कारणों से इन गुणों के नियामक के रूप में ब्रह्माविष्णुशिव इन देवताओं को, सभी के अन्तर्यामि, सभी के नियामक भगवान ने बनाया है। **ततः** का अर्थ है- चूँकि जगत त्रिविध है अतः त्रिविध होने के कारण ब्रह्माविष्णुशिव **देवतारूपवत्** कहे गए हैं अर्थात् आधिदैविकरूप से कूर्मपुराण इत्यादि में "*लीलया*

परमेश्वरा(2/90)" इत्यादि श्लोकों में कहे गए हैं। वास्तव में तो सभी के नियामक केवल भगवान ही हैं- यह अर्थ है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि, चूँकि ये देवता मात्र गुणाभिमानी हैं अतः "*गुणाभिमानिनो देवाः(श्री0भा-3/29/44)*" इस श्लोक द्वारा इन देवताओं को कालभय होना कहा गया है। किन्तु इनके अतिरिक्त भगवान के गुणावतार देवता तो त्रिविध पुराणों(सात्विकराजसतामसपुराणों)में प्रकृति-पुरुष के नियामक के रूप में प्रसिद्ध हैं अतः उन्हें कालभय होना नहीं कहा गया है। ये गुणावतार देवता गुणाभिमानी देवताओं से भिन्न ही हैं(ब्रह्माविष्णुशिव इन त्रिदेवों की दो कोटियाँ हैं। एक गुणाभिमानी हैं और एक गुणावतार हैं। जो जगत के सात्विकराजसतामस गुणों का नियमन करते हैं, उन्हें गुणाभिमानी देवता कहा जाता है, जैसे ब्रह्माविष्णुशिव। और ब्रह्माविष्णुशिव को जहाँ इनके पुराणों में प्रकृतिपुरुष के भी नियामक बताया गया है, यानि कि ईश्वर कोटि में बताया गया है, उन्हें गुणावतार कहा जाता है। इन दोनों में अंतर इसी से ज्ञात हो जाता है कि, गुणाभिमानी देवताओं को कालभय होना कहा गया है जबकि गुणावतार को कालभय होना नहीं बताया गया। जिस प्रकार *"एक साथ रहने वाले परस्पर सखाभाव रखने वाले जीवात्मा और परमात्मा यह दो पक्षी एक ही वृक्षरूपी शरीर का आश्रय लेकर रहते हैं(मुण्डक-3/1/1)"* इत्यादि श्रुतियों में जीव एवं अन्तर्यामि में भेद बताया गया है और कहीं पर तो *"जगत की रचना करने के पश्चात् परमात्मा स्वयं भी जगत में प्रविष्ट हो गया और मूर्त एवं अमूर्त भी बन गया(तै0उप-2/6)"* इत्यादि श्रुतियों के अनुसार अभेद भी बताया गया है, इसलिए कल्पभेद के अनुसार जीव-अन्तर्यामि का भेद और अभेद दोनों ही पक्ष युक्त हैं; ठीक उसी प्रकार जिस पक्ष में गुणाभिमानी एवं गुणावतार देवताओं में भेद दर्शाया गया है, उस पक्ष में गुणाभिमानी देवताओं के दृष्टिकोण से आचार्यचरणों का गंगा के त्रिप्रकारकस्वरूप का दृष्टान्त देना संगत बैठता है, यह भाव है। पूर्वपक्षी का प्रश्न यह था कि, जब श्रीभागवत में ब्रह्म के स्वरूपों में परस्पर अभेद बताया गया है अर्थात् सभी स्वरूपों को एक ही स्वरूप से बताया गया है, तो फिर आचार्यचरणों ने गंगा के तीन स्वरूपों के दृष्टान्त द्वारा ब्रह्म के तीन अलग-अलग स्वरूप क्यों बताए ! इसका स्पष्टीकरण यह हुआ कि उपर्युक्त विवेचनानुसार शास्त्रों में देवताओं की दो कोटियाँ प्राप्त होती हैं, जिनको कभी भेदरूप से तो कभी अभेदरूप से भी बताया जाता है। ऊपर के दृष्टान्तों में श्रीपुरुषोत्तमचरणों ने जीवात्मा और परमात्मा के संदर्भ में भी भेद और अभेद दोनों होने का प्रमाण दिया, इसलिए श्रीपुरुषोत्तमचरण यह स्पष्टीकरण देना चाह रहे हैं कि आचार्यचरणों ने यहाँ भेद वाला पक्ष लेकर ब्रह्म का त्रिप्रकारकस्वरूप बताया है। ऐसा इसलिए क्योंकि आपश्री को बताना यह है कि, जो लौकिकपदार्थों की कामना करने वाले हैं, उन्हें फल ब्रह्मादि देवता देंगे और जो लौकिकपदार्थों का त्याग करके मात्र स्वरूप की कामना रखते हुए भगवान से प्रेम करने वाले हैं, उन्हें फल भगवान-हरि देंगे। इस कारण सर्वप्रथम आचार्यचरणों ने गंगा के त्रिप्रकारक स्वरूप के दृष्टान्त द्वारा ब्रह्म के तीन स्वरूप बताए और तत्पश्चात् जगत का स्वरूप अलग से बताया जो कि गंगाजल का दृष्टान्त देने के उपरान्त भी समझ में न आता; और तत्पश्चात् जगत का नियमन करने वाले तीन देवता बताए और तत्पश्चात् यह बताया कि लौकिककामनापूर्ति इन देवताओं से होगी और भगवत्स्वरूपनिष्ठ भगवद्भक्तों की कामनापूर्ति भगवान-हरि द्वारा होगी। यहाँ शंका का स्पष्टीकरण पूर्ण होता है।

एवं दृष्टान्तं व्याकृत्य ब्रह्मणीत्थं हरिर्मत इति दार्ष्टान्तिकं व्याकुर्वन्ति ब्रह्मैकेत्यादि । तथाच मुण्डके पुरुषाक्षरयोः परापरभावस्य श्रौतत्वादक्षरनियामकत्वं मूलपुरुषे सिद्धम्, तस्य कृष्णत्वं च तापनीये, अतस्तथेति । तन्निष्ठानां नियामको हरिरेव मतो युक्त्यानुचिन्तित इत्यर्थः ।

इस प्रकार दृष्टान्त(गंगा)का विवेचन करके प्रभुचरण **ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः** इत्यादि पदों के द्वारा कहे गए दार्ष्टान्त(हरि)के स्वरूप का विवेचन **ब्रह्मैक** इस पंक्ति से कर रहे हैं। इस पंक्ति द्वारा आपश्री को यह बात बतानी है कि मुण्डकोपनिषद् में पुरुष एवं अक्षर इन दोनों के लिए पर-अपर भाव कहा गया है अतः अक्षरब्रह्म पर भी नियंत्रण करने वाले तो मूलपुरुष हैं, यह सिद्ध होता है और वह मूलपुरुष कृष्ण हैं, यह तापनीय उपनिषद् मे कहा गया है, अतः प्रभुचरणों ने लिखा कि अक्षरब्रह्म में निष्ठा रखने वालों के नियामक भी वास्तव में तो हरि ही हैं। **ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः**(अक्षरब्रह्म के नियामक हरि हैं, यह माना गया है)का यह तात्पर्य है कि, यह बात युक्तियों द्वारा भलीभाँति शास्त्रचिन्तन करने के पश्चात् कही गयी है।

नन्वेवं सति देव्या यथा रूपद्वयनियामकतामात्रम्, न तु भक्तं प्रति स्वतः किञ्चित् फलम्, तथा कृष्णाद्भगवतोऽपीति तत्सेवा कुत उपदिष्टेति शंकोत्तिष्ठति, तन्निवृत्त्यर्थमाहुः मूले कामचार इति । तुः उक्त शंकानिरासे । अस्मिन् लोके त्रिविधे जगति,

ब्रह्मादिभ्योऽधिष्ठातृभ्यः, **कामचारः** काम इच्छा उपासकादीनां तेन चारः चरणम्, 'चर गतिभक्षणयोः', तत्तल्लोकविषयिणी प्राप्तिर्भोगो वा । **न चान्यथा** । **च** पुनः, **अन्यथा** ब्रह्मादिभ्यो विना, न तत्कामविरुद्धप्रकारेण च न, किन्तु तदिच्छाप्रकारेणैव । यथा भवतीति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकप्रकरणबलादध्याहार्यम् । **तु** पुनः ।

किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, यदि देवीरूपा गंगा अन्य दोनों रूपों(**जलरूपा और तीर्थरूपा**)की मात्र नियामिका ही कही गयी है परन्तु भक्तों को स्वतः कोई फल नहीं देती, यदि उसी प्रकार कृष्णरूप से भगवान भी कोई फल न देते हों, तो आचार्यचरण कृष्ण की सेवा करने का उपदेश क्यों दे रहे हैं- यह शंका होती है ! इस शंका निवारण करने हेतु मूलश्लोक में आचार्यचरणों ने **कामचार**ः पद कहा है। **तु** शब्द इसी शंका का निराकरण करने हेतु प्रयुक्त किया गया है। मूलश्लोक का अर्थ यह है कि, **अस्मिन् लोके**= इस त्रिविध जगत् में; **ब्रह्मादिभ्यो**=इस लोक के अधिष्ठाता ब्रह्मादि देवताओं से; **कामचार**ः=इनके उपासकों की इच्छाएँ पूर्ण होती हैं अर्थात् इन इन देवताओं के लोक को प्राप्त करने या इन लोकों का भोग करने की इच्छा तो इन्हीं देवताओं से पूर्ण होती हैं। **न चान्यथा** अर्थात् ब्रह्मादि देवताओं के बिना इच्छापूर्ति नहीं होती यानि लोगों की मनोवांछित इच्छा के विरुद्ध नहीं अपितु उनकी इच्छा के अनुसार ही होती है। चूँकि यहाँ दृष्टान्त(**ब्रह्मादि**)एवं दार्ष्टान्त(**श्रीकृष्ण**)का प्रकरण चल रहा है अतः इसको ध्यान में रखते हुए "यथा भवति" इन पदों को जोड़कर मूलश्लोक(11वें)का अर्थ करना चाहिए(**अर्थात् इन पदों को जोड़ देने पर इस प्रकार से अर्थ होगा- जिस प्रकार लोक में सामान्य जीवों की इच्छाएँ ब्रह्मा आदि देवताओं से पूर्ण होती हैं, उसी प्रकार भगवद्भक्तों की कामनाएँ भगवानश्रीकृष्ण द्वारा पूर्ण होती हैं**)। जबकि **तु** शब्द का प्रयोग यह बताता है कि अब यहाँ से यह बता रहे हैं कि भगवद्भक्तों की कामनाओं की पूर्ति किस प्रकार से होती है।

तथा **स्वात्मनीति** तादर्थ्ये सप्तमी, 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ती'त्यादिवत् । तथा च स्वस्य भक्तस्यात्मविषयेऽर्थे । **परमानन्दरूपे** नित्यनिरवधिसुखरूपे । **भूम्नि** कृष्ण एव, न तु लोकादौ कृष्णात् निश्चयरूपकामचार इत्यर्थः । तदेतद् व्याकुर्वन्ति **ये त्वि**त्यादि । अत्र निश्चयपदं कामचारपदेन विवृतम् । तेन यौगिकं तदिति बोधितम् । तथा च निष्क्रान्तश्चयात् निश्चयः । चयो हि बहूनामेकीकरणम् । तेन बहूनां कामानामेकीकरणरूपाच्चयान्निष्क्रान्तः । परमानन्दकृष्णैकनिष्ठतया तदेकविषयकः कामचार इत्यर्थः सिध्यति ।

स्वात्मनि पद में 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' इत्यादि वाक्यों की भाँति 'तादर्थ्य सप्तमी' का प्रयोग है, अतः **स्वात्मनि** पद का अर्थ है- भगवद्भक्तों को अपने खुद के लिए। इसका अर्थ यह हुआ कि जो भगवद्भक्त होते हैं, उनकी अपने आत्मविषयक परमानन्दरूप/नित्यनिरवधिसुखरूप पदार्थों की पूर्ति भूमाकृष्ण से ही होती है, लौकिकपदार्थों द्वारा नहीं अपितु निश्चितरूप से कृष्ण से ही कामचार(**मनोवांछित की पूर्ति**)होता है- यह अर्थ है। इसी मुद्दे का विवेचन प्रभुचरणों ने **ये तु** इस पंक्ति द्वारा किया है। इस पंक्ति में प्रभुचरणों ने मूलश्लोक के **निश्चय** पद को ही **कामचार**ः पद के द्वारा बताया है। इसलिए यहाँ **निश्चय** पद का रूढ अर्थ न लेकर यौगिक-अर्थ लेना चाहिए। 'निश्चय' पद में निः=निष्क्रान्त(**निकला हुआ,किसी मुद्दे का निचोड़ या फलितार्थ**); और **चय**ः=बहुत सारी वस्तुओं को एक करके उसका समूह। इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त कामनाओं के समूह से निकल कर निचोड़रूप से अंत में केवल परमानन्दकृष्णसम्बन्धी कामनाएँ ही रखने का नाम 'निश्चय' है। इस प्रकारक अर्थ करने से यह अर्थ सिद्ध होता है कि, परमानन्दकृष्ण में ही निष्ठ होने के कारण भगवद्भक्तों को केवल परमानन्दकृष्णविषयक कामचार ही होता है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि एक परमानन्दकृष्ण में ही निष्ठ हो जाने के कारण भगवद्भक्त को केवल कृष्णसम्बन्धी इच्छाएँ ही होती हैं, अन्य कोई कामनाएँ नहीं होतीं।

'रूढिर्योगमपहरती'त्यरुच्या निश्चयपदं प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति **अथवे**त्यादि । अस्मिन्पक्षे स्वात्मनीति कृष्णपदविशेषणम् । निश्चयपदमेककोटिकत्वाच्छङ्काविरुद्धज्ञानार्थकम् । तद्विषयत्वेन कामचारोन्वेति । **तत्प्रार्थन** इति, कामचारप्रार्थने । तथा चैवं व्याख्यानद्वयेपि 'सङ्कल्पादेव च तच्छ्रुतेः' 'अत एव चानन्याधिपति'रित्युक्तरीत्या भगवत एव फलं भवतीति तदर्थं युक्तस्तत्सेवोपदेश इत्यर्थः । तदेतत्सर्वमभिसन्धायाहुर्मूले **अतस्त्वि**त्यादि । **अतस्तु** उक्तप्रकारेण शङ्काया निरासात्, ब्रह्मवादेन 'सर्वं ब्रह्मैवे'ति श्रीभागवतगीताब्रह्मसूत्रसिद्धेन श्रौतसिद्धान्तस्थापनेन, कृष्णे परब्रह्मण्येव, **बुद्धिर**न्तःकरणं, **विधीयतां** विशेषेण धार्यतामित्यर्थः ।।११ $^{1}/_{2}$।।

आपश्री ने उपर्युक्त प्रकार से 'निश्चय' पद का यौगिक-अर्थ तो कर दिया, परन्तु बाद में प्रभुचरणों को "*रूढी यौगिक अर्थ को हटा देती है*" इस वाक्य का विचार करके 'निश्चय' पद का यौगिक अर्थ करने वाले पक्ष से अरुचि हुई इसलिए उन्होंने **निश्चय** पद का **अथवा** इत्यादि शब्द कहकर इसका अन्य प्रकार से भी अर्थ किया। इस पक्ष में **स्वात्मनि** पद को **कृष्णे** पद का विशेषण समझना चाहिए(अर्थात् अपने आत्मरूप कृष्ण में- इस प्रकार से अर्थ करना चाहिए)। अब चूँकि 'निश्चय' पद केवल एक कोटि को ही बताने वाला होता है(**जहाँ सन्देह होता है, वहाँ दो कोटियाँ होती हैं यानि करें या न करें, परन्तु, जहाँ बात निश्चित होती है, वहाँ केवल एक ही कोटि होती है**)अतः इससे पता चलता है कि, कृष्ण के विषय में अब भगवद्भक्त को कोई भी शंका-कुशंका नहीं रहती, इसलिए वह यह निश्चय कर लेता है कि, मेरी समस्त इच्छाओं के विषय कृष्ण ही हैं, कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं। इसी बात के संदर्भ में प्रभुचरणों ने **तत्प्रार्थने** इस पंक्ति द्वारा यह लिखा है कि, "*स्नेहातिशय के कारण भक्तों को तो अपनी आत्मा के रूप में प्रभुश्रीकृष्ण ही स्फुरित होते हैं अतः सर्वांश में या सभी वस्तुओं के लिए वे श्रीकृष्ण से ही प्रार्थना करते हैं- इसमें कोई भी शंका नहीं करनी चाहिए*"। इसका फलितार्थ यह हुआ कि, कृष्ण के संदर्भ में 'निश्चय' पद का दोनों ही प्रकारों से किए गए व्याख्यान द्वारा "*संकल्पादेव च तच्छ्रुतेः(ब्र0सू-4/4/8)*","*अत एव चानन्याधिपतिः(ब्र0सू-4/4/9)*" इत्यादि वाक्यों के अनुसार भगवद्भक्तों को भगवान से ही फल प्राप्त होता है, इसलिए आचार्यचरणों का भगवद्भक्तों के लिए कृष्णसेवा का उपदेश करना युक्त ही है- यह अर्थ है। इन सभी बातों का अनुसन्धान रखते हुए आचार्यचरणों ने मूलश्लोक में **अतस्तु** यह कारिका लिखी है। इसमें **अतः** से आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि, चूँकि उपर्युक्त समस्त विवेचनों के द्वारा पूर्व की शंका का निराकरण हो चुका है,[पूर्व की पंक्तियों में "*यदि देवीरूपा गंगा अन्य दोनों रूपों(जलरूपा और तीर्थरूपा)की मात्र नियामिका ही कही गयी है परन्तु भक्तों को स्वतः कोई फल नहीं देती, तो उसी प्रकार कृष्णरूप से भगवान भी यदि कोई फल न देते हों, तो आचार्यचरण कृष्ण की सेवा करने का उपदेश क्यों दे रहे हैं*" जो यह शंका की गयी थी, उस शंका का निराकरण हो गया- यह अर्थ है] अतः आपश्री आज्ञा करते हैं- ब्रह्मवाद के अनुसार अर्थात् "*सर्वं ब्रह्मैव(तेजोबिन्दु उपनिषद्-6/65)*" इस श्रुति के अनुसार श्रीभागवतगीताब्रह्मसूत्र के द्वारा सिद्ध हुए श्रौतसिद्धान्त के स्थापन द्वारा परब्रह्मकृष्ण में ही बुद्धि/अन्तःकरण को विशेषरूप से लगाना चाहिए- यह अर्थ है ॥$11^{1}/_{2}$॥

एवमत्र पूर्वोक्तसाधनशेषत्वेन प्रमेयं फलं च निरूप्य येषां नैतादृशसाधनाधिकारः, तेषां कथं, का च फलसिद्धिरित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति अथेत्यादि । अथेति, मुख्यसाधनप्रकरणोक्त्यनन्तरम् । तेनास्मिन्प्रकारे जीवस्वरूपज्ञानमावश्यकम्, न तु पूर्वोक्तप्रकारे । तत्र शरीरविशिष्टजीव एव भगवद्दासत्वज्ञानस्यैवापेक्षितत्वादिति बोधितम् । जीवस्वरूपमिति । बद्धजीवस्वरूम् । व्याकुर्वन्ति आत्मविषय इत्यादि । तेनात्मनीति भिन्नं वाक्यमिति बोधितम् ।

श्रीपुरुषोत्तमचरणों ने ऊपर तक के विश्लेषणों द्वारा उत्तमाधिकारियों के विषय में बता दिया और अब यहाँ से मध्यमाधिकारी, जघन्याधिकारी एवं अतिजघन्याधिकारियों के विषय में बता रहे हैं।

इस प्रकार से भगवत्प्राप्ति के साधन बताने की प्रक्रिया में आने वाले ब्रह्मविषयकसिद्धान्त एवं उन साधनों से प्राप्त होने वाले फल का निरूपण करने के पश्चात् अब जिनका इन साधनों में अधिकार नहीं है, उनको किस प्रकार से एवं क्या फल सिद्ध होगा, यह आकांक्षा होने पर आचार्यचरणों ने अग्रिमश्लोक लिखा है- यह बात बताने के लिए प्रभुचरणों ने आगे **अथ** यह पंक्ति लिखी है। इस प्रकरण को **अथ** शब्द से आरम्भ करने का तात्पर्य यह है कि, सेवासाधनप्रकरण की मुख्य बात तो आपश्री कह चुके, अब इसके पश्चात् जो अन्य अधिकारियों की बात शेष रह गयी है, उसे कह रहे हैं। अन्य अधिकारियों को तो जीवस्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक है, जबकि पूर्वोक्त उत्तमाधिकारियों के लिए जीवस्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक नहीं होता। उत्तमाधिकारियों को तो केवल अपने शरीरविशिष्टजीव को भगवान के दासरूप से जान लेना ही पर्याप्त होता है(मात्र शरीरविशिष्टजीव को ही भगवान के दासरूप से जान लेने का तात्पर्य यह है कि, उत्तमाधिकारियों को शुद्धजीवस्वरूप या आत्मा के स्वरूप को जानने की आवश्यकता नहीं होती अपितु अपने शरीर को प्रभु के दास के रूप में जान लेना ही पर्याप्त होता है। इसके अतिरिक्त जीवस्वरूप या आत्मास्वरूप को जानने की गहराई में जाना आवश्यक नहीं होता। उनको फलसिद्धि सीधे श्रीकृष्ण से ही होती है अतः उनके लिए अपने आपको श्रीकृष्ण के दासरूप से जान लेना ही पर्याप्त होता है। इसके

अतिरिक्त जीव का स्वरूप क्या है, वह बद्ध क्यों होता है, वह मुक्त कैसे होगा इत्यादि बातें उनके लिए जाननी आवश्यक नहीं होतीं। जबकि अन्य न्यूनाधिकारियों के लिए जीव का मूलस्वरूप एवं तत्सम्बन्धी अन्यान्य बातें जाननी आवश्यक होती है, तब जाकर उनमें दृढ़ता आती है- यह अर्थ है)। इस पंक्ति में **जीवस्वरूपं** शब्द से प्रभुचरणों का तात्पर्य बद्धजीव के स्वरूप को बताने से है। उसी का स्वरूप बताने के लिए आपश्री ने **आत्मविषये** यह पंक्ति लिखी है। इसी कारण प्रभुचरणों ने ऐसा लिखा है कि मूलश्लोक में **आत्मनि** पद को भिन्नतया रखकर अर्थ करना चाहिए। अर्थात् कारिका का अर्थ-*आत्मनि उच्यते= ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः(अब आत्मा के विषय में कह रहे हैं कि= ब्रह्मरूप आत्मा में चेतनाएँ/अन्यथा बुद्धियाँ उत्पन्न होनी छलनी द्वारा आकाश में दिखाई देने वाले छिद्रों की भाँति भ्रामक है)*- यों करना चाहिए।

अत्र मूले पाठद्वयम् । ‘ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतना’ इत्येकः । ‘ब्रह्मरूपे ही’त्यपरः । तत्र प्रथमे तोः प्रकरणभेदकत्वमनुसन्धाय टीकायां प्रकरणभेदप्रतिज्ञा व्याख्यातेति ज्ञायते ।

यह ध्यान रखना चाहिए कि 'चेतना' शब्द का अर्थ 'बुद्धियाँ' भी है एवं चित्प्रधान धर्म वाले 'जीव' भी है।

मूलश्लोक की इस कारिका के लिए दो प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं। एक तो "**ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः**"और दूसरा "**ब्रह्मरूपे हि छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः**" यों दो पाठ उपलब्ध होते हैं। चूँकि **तु** शब्द पूर्वविषय को हटाकर नये विषय की चर्चा का द्योतक होता है इसलिए इसमें यह बात समझ में आती है कि, प्रभुचरणों ने आचार्यचरणों द्वारा कहे **तु** शब्द के द्वारा '*अब यहाँ से प्रकरण बदल रहा है*' इस अर्थ को लेकर अपनी टीका में पहला वाला पाठ मान कर व्याख्या की है।

द्वितीये तु विषयभेदादेव प्रकरणान्तरावगतिः । हिर्हेतौ, ब्रह्मरूपे ‘[१]ब्रह्मांशत्वेन ब्रह्मात्मके प्रकृतत्वादात्मनि चेतनाः बुद्धयः, ‘प्रतिपत्ज्ञप्तिचेतना’ इति कोशात् ताः जीवानां संसारित्वापादकोपाधिभूता इति शेषः । पुरञ्जनोपाख्याने ‘बुद्धिं तु प्रमदां विद्यान्ममाहमिति यत्कृत’मिति वाक्यात् । तदेतट्टीकायां विशदीकुर्वन्ति जीवा हीत्यादि । हिर्हेतौ । यतो हेतोः जीवाः निबन्धे ‘तदिच्छामात्रतस्तस्माद्ब्रह्मभूतांशचेतना’ इत्यत्र ब्रह्मभूताः, न तु योगबलेनाविर्भाविताः, अंशाः साकाराः सूक्ष्मपरिच्छेदाः चेतनाः चित्प्रधाना इति व्याख्याततत्वात्, श्रुतौ च बुद्धेर्गुणेनाङ्गुष्ठमात्रत्वमुक्त्वाग्रे ‘आत्मगुणेन चैव’, ‘आराग्रमात्रो ह्यपरोपि दृष्ट’ इत्यादिकथनात् ‘ममैवांशो जीवलोके’, ‘एकस्यैव ममांशस्ये’त्यादिस्मृते‘रंशो नानाव्यपदेशा’दिति सूत्राच्चांशत्वेन सिद्धाः । ‘उत्क्रान्त्यादि’ सूत्रैरणुत्वस्य साधनाच्चाणवोऽणुपरिमाणाः अक्षरात्मकाः ।

किन्तु यदि दूसरा वाला पाठ मानें, तो यों अर्थ करें कि, प्रकरण बदलने की बात तो विषय परिवर्तित हो जाने के द्वारा अपने आप ही ज्ञात हो जाती है अतः यहाँ **हि** शब्द को हेतु के अर्थ में लेना चाहिए। हेतु अर्थ लेने पर इसका अर्थ होगा- अभी यहाँ जिस जीवस्वरूप एवं उसके बद्धस्वरूप को बताने वाले विषय की चर्चा चल रही है, उस विषय के अनुसार 12वीं कारिका का अर्थ है- आत्मा(जीव) ब्रह्मरूप है यानि ब्रह्मांश होने के कारण ब्रह्मात्मक है; और आत्मा(जीवों)को चेतना अर्थात् मायाग्रसितबुद्धियाँ संसारी बना देती हैं। हमने 'चेतना' का अर्थ 'बुद्धि' किया है, जो कि '*प्रतिपत्, ज्ञप्ति, चेतना इत्यादि बुद्धि के कुल 14 नाम हैं(अमरकोश-1/5/1)*' इस कोशवाक्यानुसार किया है। बुद्धियाँ जीव को संसारी बना देती हैं- यह बात पुरञ्जनोपाख्यान में भी "*बुद्धिं तु प्रमदां(श्री0भा-4/29/5)*" इस वाक्य द्वारा कही गयी है। इसी बात को प्रभुचरणों ने अपनी टीका में **जीवा हि अणवः** इस पंक्ति द्वारा विवृत किया है। इस पंक्ति में **हि** शब्द हेतु के अर्थ में है। जीवों को अणु कहने में **हि** शब्द को हेतु अर्थ में दिया होने का तात्पर्य यह है कि, चूँकि निबन्ध में आचार्यचरणों ने जीवों को "*तदिच्छामात्रतः(शा0प्र-27)*" इस वाक्य में ब्रह्मस्वरूप बताया है, परमात्मा के योगबल से आविर्भूत होने वाले नहीं; साथ ही साथ यह भी बताया है कि वे भगवान के अंश हैं, सूक्ष्म हैं एवं **चेतनाः** यानि कि चित्प्रधान धर्म वाले हैं; श्रुति में भी जीवों को बुद्धि की सीमित गणना के अनुसार अंगुष्ठमात्र कहकर(लौकिकबुद्धि से जिस प्रकार समझ में आ सके उसके अनुसार कहकर)तत्पश्चात् आगे "*आत्मगुणेन चैव*","*आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्ट(श्वेताश्वतर उप-5/8)*" इत्यादि कथनानुसार एवं "*ममैवांशो जीवलोके(भ0गी-*

---

१. ‘ब्रह्मरूपे साकारब्रह्मस्वरूपे चेतना बुद्धिर्वोक्ते ब्रह्मस्वरूपे अविद्यांशभूताभिः बुद्धिभिरिव भेदप्रतीतिः । पुरञ्जनोपाख्याने ‘बुद्धिं तु प्रमदां विद्यात् ममाहमिति यत्कृत’मिति वाक्येन अविद्यावृत्तिरूपाणां तासामेव ब्रह्मप्रदेशावच्छेदकत्वात्, जीवपक्षे तूत्पत्त्या विचारे ‘बहु स्या’मिति इच्छैव करणादंशांशिभावमभिप्रेत्य जीवस्वरूपं (व्या) कुर्वन्ति’ इति ‘ब्रह्मरूपे–जीवा ही’त्यत्र पाठान्तरम् ।

15/7)","एकस्यैव ममांशस्य(श्री0भा-11/11/4)" इत्यादि स्मृतिवाक्यानुसार एवं *"अंशो नानाव्यपदेशात्(ब्र0सू-2/3/43)"* इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार भी जीव ब्रह्म का अंश होना सिद्ध होता है।और *"उत्क्रान्त्यादि(ब्र0सू-2/3/19)"* इस सूत्र के द्वारा भी जीव को अणु सिद्ध किया होने के कारण जीव अणु जितने छोटे हैं, अक्षरात्मक हैं।

एवं जीवस्वरूपमुक्तम् । अत:परं तेषां मोक्षं वक्तुं ब्रह्मरूपे छिद्रा व्योम्नीवेति यद्बद्धत्वमुक्तं तद् व्युत्पादयन्ति तदात्मकत्वमित्यादि । तदात्मकत्वं ब्रह्मात्मकत्वम् । अविद्यया 'एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते । बन्धोस्याविद्ययानादि'रिति भगवद्वाक्ये बन्धकत्वेनोक्त्या ब्रह्मशक्त्या, 'न तं विदाथे'तिश्रुतावज्ञानजनकतयान्तरशब्देनोक्तत्वादन्तरायभूतया स्वात्मानं ब्रह्मात्मकं न विदन्ति, तेन संसार 'महं ममे' त्यभिमानरूपमापद्यन्ते । इदं संसारापादकत्वमेव तस्या अविद्याया उपाधिरूपत्वम् । प्रयोजको ह्युपाधिरित्युच्यते । अत: संसारप्रयोजकत्वमेव तथात्वम् ।

इस प्रकार से यहाँ तक प्रभुचरणों ने जीव का स्वरूप बताया। अब इसके पश्चात् इन जीवों के मोक्ष के विषय में बताने के उद्देश्य से प्रभुचरण आगे आचार्यचरणों ने जो "ब्रह्मरूपे छिद्रा व्योम्नीव" इन पदों द्वारा जीव को बँधा हुआ बताया है, उसकी विवेचना **तदात्मकत्वं** इस पंक्ति द्वारा कर रहे हैं। जीव को **तदात्मक** कहने का अर्थ है- जीव ब्रह्मात्मक है। आपश्री ने **अविद्यया** पद के द्वारा अविद्या के कारण जीव का ब्रह्म से दूर हो जाना बताया है, इसका तात्पर्य यह है कि *"एकस्यैव ममांशस्य(श्री0भा-11/11/4)"* इस भगवद्वाक्यानुसार अविद्या जीव को संसार में बाँध देने वाली कही गयी होने के कारण ब्रह्मशक्ति कही गयी है; और *"न तं विदाथ(यजुर्वेद 17/31)"* इस श्रुति में चूँकि अविद्या को 'अन्तर' शब्द के प्रयोग द्वारा जीव में अज्ञान उत्पन्न करने वाली बताया गया है, अतः प्रभुचरणों ने अविद्या को 'अन्तरायभूता' कहते हुए यह बताया है कि अविद्या के कारण जीव अपने आप को ब्रह्मरूप नहीं जान पाता और जिसके कारण वह अहन्ताममतात्मकरूपी संसार में गिर जाता है। जीव को इस प्रकार से संसार में भटका देना ही अविद्या की उपाधि है। **उपाधि** का अर्थ है- प्रयोजक**(जो किसी कार्य को संपन्न कराता है, उसे प्रयोजक कहते हैं)**। इसलिए संसार में भटका देने में प्रयोजिका बनती होने के कारण ही अविद्या को उपाधिरूप कहा जाता है। **अद्वैतसिद्धान्त यह मानता है कि सभी कुछ ब्रह्म है, ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं। यह भौतिकजगत, जीव इत्यादि सभी कुछ वास्तव में तो ब्रह्म ही है परन्तु माया या अविद्या के कारण हमें यह जगत भौतिकरूप से दिखाई देता है। अद्वैतसिद्धान्त परमार्थतः जीव की सत्ता को नहीं मानता, वह यह मानता है कि जीव भी वास्तव में तो ब्रह्म ही है परन्तु माया की उपाधि के कारण ब्रह्म न दिखाई देकर जीव दिखाई देता है। माया का कोई रूप नहीं है, वह ब्रह्म की शक्ति कही गयी है, ठीक उसी प्रकार जैसे सुगंध का कोई रूप नहीं होता। परिदृश्यमान जगत माया की निर्मिती है, स्वप्न की भाँति है। जैसे निद्रा जब भंग हो जाती है, तो स्वप्न भी टूट जाता है और स्वप्न में देखी गयी सभी वस्तुएँ भ्रम सिद्ध हो जाती हैं; ठीक उसी प्रकार माया के कारण यह ज्ञान नहीं रह पाता कि सभी कुछ ब्रह्म है अपितु भ्रमवश जड़-चेतन पदार्थ दिखाई पड़ते हैं। परन्तु जब ज्ञान होगा और माया की उपाधि दूर हो जायेगी, तब प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक जीव हमें ब्रह्म दिखाई देने लगेगा। मायावादी अपने सिद्धान्त को समझाने के लिए जल और चन्द्रमा का उदाहरण देते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ने से आकाश में एवं जल में दोनों स्थलों पर चन्द्रमा दिखाई देने का भ्रम होता है परन्तु चन्द्रमा तो एक ही होता है; ठीक वैसे ही माया की उपाधि के कारण भ्रमवश जड़-चेतन इत्यादि दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु उपाधि नष्ट हो जाने पर भ्रम दूर होकर केवल ब्रह्म की ही सत्ता रह जाती है, अन्य कुछ भी नहीं बचता।**

तु पुनस्तत्कृतं जीवत्वम् न, तया दोषरूपया, आभासनेन वा, तस्यां प्रतिबिम्बेन वा, तयाऽवच्छेदकेन वा प्रयुक्तं जीवत्वं न, आभासप्रतिबिम्बपक्षे तत्स्वरूपस्याब्रह्मत्वप्रसङ्गात् ।

प्रभुचरणों ने **तु** शब्द से यह बताया है कि अविद्या ने जीवों में जीवत्व उत्पन्न नहीं किया है। यह कहने से प्रभुचरणों का तात्पर्य यह है कि- ऐसा नहीं है कि दोषरूपा अविद्या के कारण, या अविद्या द्वारा ब्रह्म में जीवत्व का आभास कराने के कारण, या अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबम्ब पड़ने के कारण, या अविद्या ने ब्रह्म को विभिन्न अंशों में विभक्त कर दिया होने के कारण जीवत्व होता है, क्योंकि यदि जीव को आभास मान लिया जाय या माया में ब्रह्म का प्रतिबम्ब मान लिया जाय, तो फिर अद्वैतसिद्धान्त के सामने कठिनाई यह आयेगी कि, तब जीव को किसी भी परिस्थिति में ब्रह्मरूप नहीं कहा जा सकेगा। **तात्पर्य यह कि प्रतिबिम्ब कभी भी बिम्ब नहीं बन सकता। दर्पण में दिखाई देने वाला हमारा प्रतिबिम्ब कभी भी**

वास्तविक नहीं होता। प्रतिबिम्ब कभी भी हमारा रूप नहीं धारण कर सकता, प्रतिबिम्ब तो केवल भ्रम होता है। अद्वैतसिद्धान्त यह कहता है कि, परमार्थतः जीव जैसी कोई सत्ता है ही नहीं अपितु सभी कुछ ब्रह्म ही है और ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जब माया पर पड़ा तो उसके कारण हमें जीव दिखाई देने लग गए अतः अद्वैतसिद्धान्त का मानना है कि, जीव तो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। इसमें एतन्मार्गीयसिद्धान्तपक्ष का तर्क यह है कि, प्रतिबिम्ब कभी भी बिम्ब नहीं बन सकता क्योंकि प्रतिबिम्ब तो सदा-सर्वदा प्रतिबिम्ब ही रहेगा अतः यदि जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मान लिया जाय, तो फिर जीव को कभी भी ब्रह्मरूप नहीं कहा जा सकेगा, जबकि अद्वैतसिद्धान्त यह कहता है कि, जीव तो ब्रह्मरूप है !

अवच्छेदनस्यापि अंशत्वकथनोत्तरं बन्धस्मरणेन व्युच्चरणोत्तरभावित्वनिश्चयात् ।

जहाँ तक अवच्छेदनवाद वाले पक्ष की बात है, तो यह समझें कि, चूँकि शास्त्रों में पहले तो जीव को अंश कहा गया है और तत्पश्चात् उसे माया के कारण संसार का बन्धन होना बताया गया है, इसलिए इससे इतनी बात तो स्वतः ही निश्चितरूप से सिद्ध हो जाती है कि, सबसे पहले तो जीव ब्रह्म का अंश है और माया के द्वारा जीव के संसार में बँधने की घटना उसके ब्रह्म से अलग होने के पश्चात् की है; अतः जीव को अंश कहते ही यह बात स्वतः सिद्ध हो गयी कि जीव ब्रह्म से निकला है, माया के अवच्छेदन के कारण जीवत्व नहीं हुआ।

'तद्वज्जीवो नभोपम' इति श्रौतोपमाया अपि 'घटो लीयेत नाकाश'मित्यनन्तरमुक्ततया लयाभावमात्र एव पर्यवसितत्वस्य अग्रिममन्त्रे जलचन्द्रदृष्टान्तेन तस्य चांशप्रवेशप्रयुक्तत्वेनापि निश्चयादित्यर्थः ।

और जहाँ जीव के लिए *'तद्वज्जीवो नभोपमः=जीव नभ(आकाश)के समान व्यापक है(ब्रह्मबिन्दु उप-13)'* इस श्रुति द्वारा नभ की उपमा दी गयी है, उसमें भी श्रुति का तात्पर्य जीव को व्यापक बताना नहीं है, जो पूर्वपक्षी सिद्ध करना चाह रहा है। जीव को व्यापक बताने के लिए श्रुति उसे नभ/आकाश के समान नहीं कहती अपितु नभ/आकाश की भाँति जीव की भी सत्ता सदैव बनी रहती है- यह बात बताने के लिए श्रुति जीव को नभ/आकाश के समान बताती है, क्योंकि ऊपर कही श्रुति में पहले "घटो लीयेत नाकाशं=*घट का लय होता है, आकाश का नहीं। घड़ा तो फूट जाता है परन्तु आकाश सदैव बना रहता है। अतः जिस प्रकार घड़ा फूट जाता है परन्तु उसके भीतर के आकाश का लय नहीं होता, उसी प्रकार अविद्या नष्ट हो जाने पर जीव का भी लय नहीं होता और ब्रह्मभाव आ जाता है*" यों कहने के पश्चात् 'तद्वत् जीवो नभोपमः' यों कहा गया है। (यानि इस श्रुति में पहले "घटो लीयते नाकाशः" यह कहा गया है और इसके पश्चात् जीव की सत्ता सदैव बनी रहती है, यह बात बताने के लिए उसके लिए नभ का उदाहरण देकर 'तद्वत् जीवो नभोपमः' इन वाक्यों द्वारा समझाया गया है)जिसका तात्पर्य केवल यह बताना ही है कि, जैसे आकाश कभी नहीं मिटता उसी प्रकार जीव का भी कभी लय नहीं होता अपितु उसकी सत्ता सदैव बनी रहती है; इन उदाहरणों से भी जीव ब्रह्म का अंश है, यह सिद्ध होता है। श्रुति ने जीव को आकाश के समान व्यापक बताया है। चूँकि व्यापक तो ब्रह्म होता है अतः पूर्वपक्षी इस श्रुति के आधार पर यह सिद्ध करना चाहता है कि जीव भी ब्रह्म ही है। श्रीपुरुषोत्तमचरण इसका खंडन करते हुए यह कहना चाह रहे हैं कि, जीव को व्यापक कहने में उक्त श्रुति का तात्पर्य केवल इतना बताने में है कि जीव का लय नहीं होता। आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि, इन उदाहरणों से भी यही सिद्ध होता है कि, जीव ब्रह्म का अंश है। इस श्रुति के पहले आने वाले मन्त्र *'(ब्रह्मबिन्दु उप-12)'* में भी जल और चन्द्रमा का दृष्टान्त देकर यह बात बतायी गयी है कि, जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा का अलग अलग जलों में अलग अलग प्रतिबिम्ब पड़ता है और जलरूप उपाधि नष्ट हो जाने पश्चात् केवल एक ही चन्द्रमा दिखाई देने लगता है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म भी अनेक प्रकार से अपना अंशत्व धारण करता है, इसलिए ये बात सिद्ध होती है कि माया के कारण जीवत्व नहीं हुआ अपितु जीव ब्रह्म का अंश है और ब्रह्म से अलग होने के कारण जीव बना है- यह अर्थ है।

तर्हि व्योमछिद्रदृष्टान्तः किमित्युक्त इत्याकाङ्क्षायां तदेतद्बोधयितुं दृष्टान्त इत्याहुः अणुत्वेत्यादि ।

किन्तु पूर्वपक्षी का कहना यह है कि, यदि जीवत्व माया के कारण नहीं है, तो प्रश्न यह उठ खड़ा होगा कि फिर आचार्यचरणों ने जीवस्वरूप को बताने के लिए व्योमछिद्र का दृष्टान्त देकर यह क्यों कहा कि यद्यपि आकाश में छिद्र नहीं हैं, तथापि छलनी की उपाधि के कारण उसमें छिद्र होने प्रतीत होते हैं ! इसके लिए पूर्वपक्षी का कहना यह है कि, इस दृष्टान्त द्वारा तो उलटे पूर्वपक्षी की ही बात सिद्ध हो रही है कि माया की उपाधि के कारण ही जीवत्व हुआ है ! तो इस शंका का स्पष्टीकरण करने हेतु प्रभुचरणों ने **अणुत्वबोधनार्थं दृष्टान्तः**(*आचार्यचरणों ने व्योमछिद्र का दृष्टान्त माया की उपाधि*

को बताने के लिए नहीं अपितु जीव को अणु बताने के उद्देश्य से दिया है) इन शब्दों से यह कहा है कि, आचार्यचरणों ने जीव को अणु बताने के उद्देश्य से ही व्योमछिद्र का दृष्टान्त दिया है।

नन्वणुत्वं चेद्बोधनीयं स्यात्, 'विस्फुलिङ्गा' इवेत्युक्तं स्यात्, नत्वेवमित्यत उपपादयन्ति व्योम्नीत्यादि । उपाधिभिरिति तितउप्रभृतिभिः । छिद्रा इवेति । 'छिद्र भेदन' इति धातोर्भावे घञि, 'छिदिर् द्वैधीकरण' इत्यतो धातोर्वा 'स्फायी'ति रकि कृते छिद्रपदं रन्ध्रवाचकं सिध्यति । तदत्र नाभिप्रेतम् । किन्तु 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेणे'त्यत्र प्रायोग्रहणात्, संज्ञाभावेपि छिद्यतेऽनेनेति योगाच्छिद्रकरणवाचकमभिप्रेतम् । अथवा 'छेदनं छिदि'ति संपदादिक्किपि 'आतोनुपसर्गे क' इति कं च कृत्वा छिदं रान्ति ददतीति छिद्रा इत्येवं द्वैधीकरणदायिवाचकमभिप्रेतम् । तथा च व्योम्न्याकाशे तितउप्रभृतिभिराकाशात् क्षुद्रैरुपाधिभिरवकाशभेदप्रयोजकैः छिद्रा इव रन्ध्राणीव भेददायकाः क्षुद्रत्वादयोऽवास्तवाः प्रतीयन्ते, तथा ब्रह्मरूपे सुवर्णशकलवद्ब्रह्मात्मके आत्मनि जीवे अविद्यांशभूतैरन्यथाबुद्धिभिश्चेतनाख्यैः क्षुद्रत्वदुःखित्वात्यन्तभिन्नत्वादयोप्यवास्तवाः प्रतीयन्ते । न तु ब्रह्मधर्माः असङ्गत्वादय इति बोधनार्थं चायं दृष्टान्तः ।

किन्तु तब भी पूर्वपक्षी को यह प्रश्न होता है कि यदि आचार्यचरणों को जीव को अणु ही बताना था, तो फिर आपश्री "*यथा अग्नेः व्युस्फुल्लिंगा*" इस श्रुति का उदाहरण देते, व्योमछिद्र का उदाहरण देने की क्या आवश्यकता थी ! तो इसका स्पष्टीकरण देते हुए प्रभुचरणों ने **व्योम्नि** यह वाली पंक्ति लिखी है। इस पंक्ति में कहे **उपाधि** शब्द का अर्थ है- छलनी जैसी वस्तु; अर्थात् छलनी से आकाश को देखने पर आकाश में छिद्र होने प्रतीत होते हैं। ध्यान देना चाहिए कि यहाँ(**श्रीपुरुषोत्तमचरण यह कहना चाह रहे हैं कि 'चेतना' शब्द का अर्थ जीव नहीं है अपितु 'बुद्धि' है। श्रीपुरुषोत्तमचरणों ने इसी बात को बताने के लिए सर्वप्रथम तो यहाँ 'छिद्र' पद का अर्थ किया है तत्पश्चात् यह बताया है कि छलनी द्वारा आकाश में दिखाई देने वाले छिद्रों की भाँति भेद दिखाने वाली अन्यथाबुद्धि को यहाँ 'चेतना' शब्द द्वारा कहा जा रहा है)** 'छिद्र भेदने(धातुपाठावली-1924)' इस धातुपाठ द्वारा अथवा तो 'छिदिर् द्वैधीकरणे(धातुपाठावली-1440)' इस धातु-अर्थ के द्वारा 'छिद्र' पद 'रन्ध्र' का वाचक होता है; किन्तु आचार्यचरणों को यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है, अपितु आपश्री को "*पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण*" इस सूत्र द्वारा "*जिसके कारण छिद्र बना, उसका नाम छिद्र है*" यह अर्थ अथवा "*जिसके द्वारा छिद्र हो जाते हैं*" यह अर्थ अभिप्रेत है। अथवा तो आपश्री को 'छिद्र' शब्द का- [*'छेदनं छित्' इत्यादि सूत्रों द्वारा 'छिद्र' शब्द का अर्थ होता है- छेदन करने वाला, जिसके कारण दो दिखाई देते हैं या जो भिन्नता दिखाए उसे छिद्र कहते हैं*]- यह अर्थ अभिप्रेत है। इन सब का तात्पर्य यह हुआ कि, जिस प्रकार आकाश में छलनी जैसी क्षुद्र उपाधियों द्वारा भेद दिखाने वाले छिद्रों की भाँति आकाश में क्षुद्र, अवास्तविक छिद्र होने प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मरूप में यानि कि स्वर्णखंड की भाँति संपूर्णतया ब्रह्मात्मक आत्मा/जीव में अविद्या के कारण 'चेतना' नामक अन्यथाबुद्धि के कारण क्षुद्रत्व, दुःखित्व(दुःख का अनुभव करना), अत्यन्तभिन्नत्व(अपने आप को ब्रह्म से भिन्न समझना)?)इत्यादि धर्म अवास्तविक होने पर भी उसमें होने प्रतीत होते हैं, परन्तु, ब्रह्म के जो असंग, व्यापक, निर्लेप इत्यादि धर्म हैं, वे ब्रह्मधर्म होने प्रतीत नहीं होते- ये बात समझाने के लिए आचार्यचरणों ने व्योम एवं छलनी का दृष्टान्त दिया है।

तथा च यदि स दृष्टान्त उक्तः स्यात्, तदोपाधिकृतो बन्धो न बोधयितुं शक्येत, अतस्तथेत्यर्थः । एतेन तद्बोधितमणुत्वमपि क्षुद्रत्वादिवद्देहपरिच्छिन्नत्वरूपमेव, न तु वास्तवमिति ज्ञापितम् । वास्तवस्य तस्य व्यापकत्वाविरोधित्वात् ।

इस सभी विशेषणों का फलितार्थ यह कहना है कि यदि आचार्यचरण "यथा अग्नेः" वाला उदाहरण देते, तो आपश्री *जीव को माया की उपाधि से संसारबन्धन हो जाता है*, यह वाली बात न बता पाते, इसलिए आपश्री ने व्योमछिद्र वाला दृष्टान्त दिया। **इससे आपश्री यह बताना चाह रहे हैं कि, व्योमछिद्र वाले दृष्टान्त द्वारा बोध कराया जाने वाला माया की उपाधि के कारण होने वाला जीव का अणुत्व भी ऊपर कहे क्षुद्रत्व, दुःखित्व इत्यादि धर्मों की भाँति देह में बँध जाने के सीमित अर्थ में ही है, किन्तु ये वाला अणुत्व जीव का वास्तविक अणुत्व नहीं है- यह प्रभुचरण बताना चाह रहे हैं।** जबकि जीव का जो वास्तविक अणुस्वरूप है, वह ब्रह्म की व्यापकता के विरुद्ध नहीं जाता। अर्थात् श्रीपुरुषोत्तमचरणों का कहना यह है कि, 'विस्फुल्लिंगा इव' वाला उदाहरण देते तो जीव के वास्तविक अणुत्व की व्याख्या हो जाती और अविद्या की उपाधि के कारण होने वाले अवास्तविक अणुत्व की बात बतानी स्पष्ट न हो पाती, इस कारण आपश्री ने 'विस्फुल्लिंगा इव' का

उदाहरण न देकर व्योमछिद्र वाला दृष्टान्त दिया।

एवं बन्धं व्याख्याय मोक्षं वदन्तीत्याशयेनाग्रिमं उपाधिनाश इत्यादिकं सार्धश्लोकं व्याकुर्वन्ति तेषां मध्य इत्यादि । पश्यतीत्यर्थ इत्यन्तम् । अविद्यालक्षणोपाधेरिति । इदं जीवविशेषणम् । अविद्यालक्षणः स्वस्वरूपविस्मारक उपाधिर्यस्येति । शेषं स्फुटम् । दृष्टान्तोक्तिप्रयोजनमाहुः तस्येत्यादि । अग्रिमश्लोके जघन्याधिकारिणो दुःखभाक्त्वकथनात्तत उत्तमस्य मर्यादाभक्तस्य ज्ञानपूर्वकं भजतो दुःखाभाव आर्थिकोऽत्र व्याख्यातो ज्ञेयः ।

इस प्रकार जीव को होने वाले बन्धन को बता कर अब उसके मोक्ष के विषय में आचार्यचरणों ने आगे **उपाधिनाशे** इत्यादि डेढ़ श्लोक द्वारा इसका विवेचन किया है- यह बात बताने के लिए प्रभुचरणों ने **तेषां मध्ये** से लेकर **पश्यतीत्यर्थः** तक की पंक्ति लिखी है। इस पंक्ति में प्रभुचरणों द्वारा लिखे **अविद्यालक्षणोपाधेः** पद को जीव का विशेषण समझना चाहिए। **अविद्यालक्षणोपाधेः** का अर्थ है- अपने स्वरूप को भुला देने वाली अविद्यारूप उपाधि जिसे हो गयी है, ऐसा जीव- यह कहना चाह रहे हैं। शेष पंक्तियाँ तो स्पष्ट हैं। मूलश्लोक में आचार्यचरणों ने दृष्टान्त(गंगातीरस्थो यद्वत्)किस कारण दिया है उसका प्रयोजन प्रभुचरणों ने **तस्य** इस पंक्ति में बताया है। अब अग्रिमश्लोक में चूँकि आचार्यचरणों ने यह कहा है कि जघन्याधिकारी दुःखी होते हैं अतः इससे यह बात अर्थतः समझ लेनी चाहिये कि माहात्म्यज्ञानपूर्वक भजन करने वाले जघन्याधिकारी से उत्तम मर्यादाभक्त दुःखी नहीं होते।

जघन्याधिकारिव्यवस्थां वदन्तीत्याशयेन संसारीति श्लोकं व्याकुर्वन्ति यस्त्वित्यादि, भवतीत्यर्थ इत्यन्तम् । तर्हि तादृशस्य किं फलं स्यादित्याकाङ्क्षायां 'उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती'त्यग्रिमग्रन्थानुसन्धानेन फलमाहुः तथापीत्यादि, ज्ञेयमित्यन्तम् । अङ्गीकारादिति । सेवाया अङ्गीकारात् । अनङ्गीकारे त्विति । प्रभुणा तत्कृतसेवाया अनङ्गीकारे ।

आचार्यचरण अब जघन्याधिकारियों की व्यवस्था का विवेचन **संसार** इत्यादि पदों से कर रहे हैं- यह बात बताने के लिये प्रभुचरणों ने **यस्तु** से लेकर **भवतीत्यर्थः** तक की पंक्ति लिखी है। तब फिर ऐसे जघन्याधिकारी को क्या फलप्राप्त होगा- यह आकांक्षा होने पर प्रभुचरणों ने "उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति" इस आगे आने वाली कारिका का यहीं से अनुसन्धान रखते हुए **तथापि** से लेकर **ज्ञेयम्** यहाँ तक के शब्दों द्वारा जघन्याधिकारी को प्राप्त होने वाला फल बताया है। **अंगीकारात् प्रभोः** का अर्थ है- चूँकि प्रभु ने जघन्याधिकारी द्वारा की गयी सेवा को स्वीकार किया होता है, इस कारण से वह भगवद्भजन का त्याग नहीं करता **अर्थात् प्रभु को उसकी सेवा स्वीकार्य होती है अतः उसके भगवद्भजन में प्रतिबन्ध नहीं आता।** **अनंगीकारे तु** इस पंक्ति का अर्थ है- यदि प्रभु जघन्याधिकारी द्वारा की गयी सेवा को स्वीकार नहीं करना चाहते तो भले ही ऐसा हो जाय कि उसके भजन में प्रतिबन्ध भी आ जाता हो, तथापि, चूँकि किया हुआ भजन व्यर्थ नहीं जाता अतः इस जन्म में न सही किन्तु अगले जन्म में उसके द्वारा की गयी सेवा या भजन फलित होगा, यह समझना चाहिए।

अग्रिमं व्याकुर्वन्तस्तत्र तस्मात्पदोक्तस्य हेतोः ([1]यस्मान्नष्टोपाधिर्ज्ञानी स्वस्मिन्भगवन्तं प्रकर्षेण पश्यति, यस्माच्च संसारी तादृशान्तःकरणस्याभावाद्दुःखी भवतीति)

अग्रिमकारिका में आचार्यचरणों ने जो **तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थः** पद कहा है, वह हेतु अर्थ में समझना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि चूँकि जिसकी उपाधि नष्ट हो चुकी है ऐसा ज्ञानी अपने भीतर भगवान को भलीभाँति देख पाता है, और चूँकि संसारी के अन्तःकरण से उपाधि नष्ट नहीं हुई होती है इसलिए वह दुःखी रहता है(यहाँ 'संसारीजीव' का अर्थ लौकिक में रचा-पचा या नास्तिक नहीं है अपितु संसारीजीव का अर्थ ऐसा जीव है जो भगवत्सेवा तो कर रहा है परन्तु फिर भी संसारासक्ति छूटी नहीं है। चूँकि संसारीजीव की उपाधि नष्ट नहीं हुई होती है और उसका चित्त संसार में लगा होता है अतः जो एतन्मार्गसम्बन्धी उपलब्धियाँ मिलनी चाहिए थीं और जो अपने भीतर उत्तरोत्तर अलौकिकता विकसित होनी चाहिए थी, अलौकिक अनुभव होने चाहिए थे, वे नहीं प्राप्त होते, संसारदुःख की निवृत्ति नहीं होती, सर्वत्र अक्षरब्रह्म की अनुभूति नहीं होती, इसलिए ये सब प्राप्त न होने के कारण वो दुःखी रहता है और इनकी इच्छा करता रहता है) इस हेतु से कृष्ण में बुद्धि योजित करनी चाहिए- यह आचार्यचरण कहना चाह रहे हैं।

पूर्वश्लोकद्वयार्थसंग्राहकतया प्रकटार्थत्वाद्यत्रास्फुटोऽर्थस्तदेव पदं व्याकुर्वन्ति श्रीकृष्णेत्यादि, भगवत्परमित्यन्तम् ।

---

[1] चिह्नान्तर्गतं नास्ति प्रायः ।

मन्मतिरिति । 'रामेण सार्धं मथुरां प्रणीत'इत्यादिभगवद्वाक्येन स्वानुभवेन च तथा निश्चयान्मन्मतिः । भगवत्परमिति । स्वप्रतिष्ठस्यैव फलताया भूमविद्यायां सिद्धत्वात्तथाविधतत्परम् । एवमनेनोपदेशवाक्यं व्याख्यातम् ।

चूँकि **तस्मात्** शब्द अपने पूर्व के दोनों श्लोकों(गंगातीरस्थो यद्वद्देवतां से लेकर तत्र दुःखभाक्)का अर्थ बता दे रहा है अतः इसका अर्थ स्पष्ट ज्ञात हो जाता है, इसलिए जो अर्थ स्पष्टतया समझ में आ सकता है, उसका व्याख्यान प्रभुचरणों ने नहीं किया अपितु इसके आगे 'श्रीकृष्णमार्गस्थ' पद का अर्थ स्पष्टतया ज्ञात नहीं होता, इसलिए उसी का व्याख्यान प्रभुचरणों ने **श्रीकृष्ण** से लेकर **भगवत्परम्** यहाँ तक की पंक्ति द्वारा किया है। आपश्री ने **मन्मति(ऐसा मेरा मानना है)**कह कर जो श्रीकृष्ण को गोपिकाओं के निरवधि आनन्द में रमण करने वाले बताए हैं, वह भाव आपश्री ने "*रामेण सार्धं(श्री0भा-11/12/10)*" इस भगवद्वाक्यानुसार एवं स्वयं अपने अनुभव के आधार पर निश्चितरूप से जाना होने के कारण कहा है। इस पंक्ति के आगे **आत्मपदं भगवत्परम्** वाली पंक्ति में प्रभुचरणों ने यह कहा है कि मूलस्थ 'आत्मानन्दसमुद्रस्थं' पद में 'आत्म' शब्द का अर्थ 'भगवान' समझना चाहिए; इसका तात्पर्य हुआ- भगवान में प्रतिष्ठित(रहने वाला)आनन्द; और भगवान में प्रतिष्ठित(रहने वाले)आनन्द को ही भूमविद्या(छान्दोग्य उपनिषद्)में फलरूप बताया गया है।(भूमविद्या में कहा गया है कि, भगवान केवल अपने आनन्द में ही प्रतिष्ठित हैं। तात्पर्य यह कि भगवान को किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, वे अपने स्वयं के आनन्द में प्रतिष्ठित हैं। इसलिए 'आत्मानन्दसमुद्रस्थं' पद में 'आत्म(अपने)' शब्द भगवान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, ऐसा श्रीप्रभुचरणों का कथन है। अब 'आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णं' का पूरा अर्थ हुआ- अपने ही आनन्द में प्रतिष्ठित कृष्ण। तात्पर्य यह कि ऐसे अपने ही आनन्द में प्रतिष्ठित कृष्ण का चिन्तन करना चाहिए) इस प्रकार से प्रभुचरणों ने आचार्यचरण द्वारा कहे **आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्**(आत्मानन्दसमुद्र में विहार करने वाले श्रीकृष्ण का ही चिन्तन करना चाहिए) इस उपदेशवाक्य का व्याख्यान किया।

लोकार्थीति श्लोकस्तु संसारिमध्येऽपि यो जघन्याधिकारी तत्पर इत्युपेक्षितः, परं तत्रायमर्थः । लाभपूजार्थयत्नस्योपधर्मत्वदेवलकत्वादिसम्पादकत्वात्तद्व्यतिरिक्तेनानिषिद्धप्रकारेण 'ऐहिकं मे भवत्वि'त्यनुसन्धाय प्रवृत्तो लोकार्थी,

मूलश्लोक में **लोकार्थी** शब्द से आचार्यचरणों का तात्पर्य उन जीवों से है, जो संसारीजीवों की कोटि में आने वाले जीवों के अन्तर्गत भी जघन्याधिकारी की कोटि में आते हैं, इस कारण प्रभुचरणों ने ऐसे जघन्याधिकारियों को उपेक्षित मानते हुए **लोकार्थी** वाली पंक्ति का व्याख्यान नहीं किया। परन्तु, जहाँ तक **लोकार्थी** का अर्थ करने की बात है तो यह समझें कि, अपने निजी लाभ के लिए भगवत्पूजा करने वालों पर तो पाखण्ड एवं देवलकता जैसे दोष आपतित होते हैं अतः ऐसे पाखण्डियों को न गिनते हुए इनसे भिन्न अनिषिद्धप्रकार से भगवद्भजन करने वालों को प्रभुचरणों ने 'लोकार्थी' कहा है अर्थात् "मुझे लौकिक प्राप्त हो जाय" इस प्रकार का अनुसन्धान रखते हुए भजन करने को प्रवृत्त हुए जीवों को आचार्यचरणों ने 'लोकार्थी' कहा है(इसका तात्पर्य यह हुआ कि चूँकि यहाँ विभिन्न भजनकर्ताओं की बात चल रही है और चूँकि देवलक या पाखण्डी की तो सर्वत्र निन्दा है और ऐसों को तो भजनकर्ता की श्रेणी में भी नहीं रखा जा सकता अतः लोकार्थी का अर्थ ऐसे पाखंडी या देवलक नहीं है, यह कहना चाह रहे हैं। पाखंडी और देवलक तो लोकार्थी की कोटि में भी नहीं आते अपितु उससे भी निचली कोटि के हैं, इसलिए लोकार्थी का अर्थ ऐसे पाखण्डी या देवलक नहीं हैं अपितु 'लोकार्थी' का अर्थ लौकिकपदार्थ प्राप्त करने के हेतु से भगवद्भजन करने वाले जीव हैं- यह श्रीपुरुषोत्तमजी का आशय है)।

तादृशश्चेत्कृष्णं भजेत्, तदा सर्वथा क्लिष्टो भवति, भगवत्प्रियाचार्यमार्गस्थत्वेन तदुपरि कृपया 'यस्यानुग्रहमिच्छामि हरिष्ये तद्धनं शनै'रिति न्यायेन वा, तन्मौढ्येन दुराग्रहादिना भगवदुपेक्षायां दृष्टादृष्टाभ्यां वा सर्वैः प्रकारैर्लोकत एव क्लेशं प्राप्नोति । तत्राद्यस्तु क्लिष्टोऽपि लोकाद्विरज्य चेत् भजेत् कृष्णम्, तदोक्तन्यायेनैव सर्वप्रकारैर्लोको बाह्य आन्तरश्च नश्यति, ततो 'मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रह'मिति न्यायेनेह परत्र वा प्रतिबन्धरहितानुग्रहविषयो भवतीति । अन्त्यस्तु दुराग्रहादिदोषेण तत्सेवायाः प्रभुणा अनङ्गीकारेपि आचार्यदयया 'नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्ण' इत्युक्तन्यायेन तत्कृतस्य स्वगामित्वेन भजनवैयर्थ्यासम्भवाज्जन्मान्तरे अनुग्रहविषयो भवतीति ।

ऐसा लोकार्थी(अर्थात् जो लौकिक प्राप्त करने की कामना से भगवद्भजन कर रहा है, वो)यदि कृष्ण का भजन करता है, तो सर्वथा क्लेश पाता है; अथवा तो यों समझें कि उसके क्लेश पाने का अर्थ यह है कि,(1)भगवान के प्रिय आचार्यचरणों के मार्ग का

अनुयायी होने के नाते ऐसे लोकार्थी जीव पर कृपा करके भगवान *"जिस पर मैं कृपा करना चाहता हूँ, उसका सब धन धीरे धीरे हर लेता हूँ और जब वह निर्धन हो जाता है,तब उसके सगे सम्बन्धी उसे छोड़ देते हैं और तब वह सभी ओर से निराश होकर मेरे भक्तों से मेलजोल बढ़ाता है और तब मैं उस पर कृपा करता हूँ(श्री0भा-10/88/8)"* इस भागवतश्लोकानुसार जब उसका सबकुछ हर लेते हैं, तब उसे क्लेश होता है, अथवा (2) भक्त यदि अपनी मूर्खतावश भगवान से लौकिककामनाएँ पूर्ण करने का दुराग्रह रखता चले तो भगवान उसकी उपेक्षा कर देते हैं और तब वह दृष्ट-अदृष्ट सभी प्रकारों से लोक में क्लेश ही पाता है। अब क्लेश पाने के उपर्युक्त दो प्रकारों में से 1ले वाले प्रकार में यह समझना चाहिए कि क्लेश पाता हुआ भी लोक से वैराग्य लेकर यदि वह कृष्णभजन करता रहे, तो उक्त भागवतश्लोकानुसार उसका बाह्य-आभ्यान्तर सभी प्रकार का लोक नष्ट हो जाता है(अर्थात् जब उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखता तो उसका लौकिक छूट जाता है)एवं तत्पश्चात् *"मत्परैः कृतमैत्रस्य(श्री0भा-10/88/9)"* इस श्लोकानुसार वह इस लोक या परलोक में बिना किसी प्रतिबन्ध के भगवान के अनुग्रह का पात्र बन जाता है। 2सरे वाले प्रकार में यह समझना चाहिए कि, उसके दुराग्रह आदि दोषों के कारण भले ही प्रभु उसकी सेवा स्वीकार न करते हों, तथापि, आचार्यचरणों की दया से *"नैवात्मनः प्रभुरयं(श्री0भा-7/9/11)"* इस श्लोकानुसार उसके द्वारा की गयी सेवा का फल चूँकि उसे ही मिलेगा इस कारण उसका किया हुआ भजन व्यर्थ जाना असंभव है अतः इस जन्म में न सही परन्तु आगे आने वाले जन्मों में कभी न कभी वह भगवान के अनुग्रह का पात्र बनता है।

अत्रैवं मम प्रतिभाति । संसारीत्यस्य व्याख्याने तथापीत्यादिज्ञेयमित्यन्तेन यदुक्तं तदस्यैव श्लोकस्यार्थ इति । तेन संसारी त्रिविधः । संसारनिवृत्तिकामो भक्त एकः । लोकार्थी सेवाग्रही द्वितीयः । सेवानाग्रही तृतीयः । तेषां त्रयाणां तत्फलमुक्तमिति ।।१६।।

यहाँ मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि, यद्यपि प्रभुचरणों ने **लोकार्थी** की व्याख्या नहीं की है परन्तु यदि ध्यान से पढ़ा जाय, तो आपश्री ने जहाँ **संसारी यस्तु भजते** इस कारिका की व्याख्या करने के अंतर्गत **तथापि** से लेकर **ज्ञेयम्** तक की जो पंक्ति लिखी है, उस पंक्ति से आपश्री ने **लोकार्थी** का ही अर्थ समझाया है। अतः ऊपर किए गए व्याख्यानों के अनुसार संसारीजीव तीन प्रकार के होते हैं, यह सिद्ध होता है। एक संसार से निवृत्ति पाने के हेतु से भगवत्सेवा करने वाला भक्त, दूसरा लोक की कामना पूर्ण होने के उद्देश्य से भगवत्सेवा का आग्रह रखने वाला और तीसरा लोक की ही कामना रखने वाला भगवत्सेवा का अनाग्रही- इन तीनों को मिलने वाला फल हमने बता दिया॥16॥

एवमत्र जघन्याधिकारिव्यवस्थामुक्त्वा मध्यमाधिकारिणो ज्ञानं सहकारित्वादावश्यकमिति तदभावे तस्य कथं फलमित्याकाङ्क्षायां तस्य फलार्थं प्रकारमुपदिशन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति स्वस्वरूपेत्यादि । मूलार्थस्तु स्वस्वरूपभगवत्स्वरूपयोर्ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी श्रीभागवततत्परः सन् पूजोत्सवादिषु, एकादशे ऊनत्रिंशेऽध्याये ‘यथाञ्जसा पुमान् सिध्येत्तन्मे ब्रूह्यञ्जसाऽच्युते’ति प्रश्ने, ये भगवता ‘हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान् सुमङ्गलान् । यान् श्रद्धयाचरन्मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जय’मित्युक्त्वा, ‘कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थे शनकैः स्मर’न्नित्यादिना भगवद्धर्मा उक्तास्तेषु तिष्ठेत् । यद्यपि तत्र पूर्वमन्येप्युक्ताः, तथापि तेष्वशक्तौ ‘पृथक्सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवा’नित्यादिनोक्तेषु, पूजायां च ‘श्रद्धामृतकथायां म’इत्यत्रोक्तायां तिष्ठेत् । मर्यादास्थो मर्यादामार्गीयस्तु गङ्गायां भगवच्चरणसंसर्गवत्यां परीक्षितो विदुरस्य च सिद्धिर्जातेति तत्र श्रीभागवततत्परस्तिष्ठेत् । तथा सति तस्य तस्य तत्तदुपयोगिज्ञानात्मकसहकारिसम्पत्तिर्भवतीति ज्ञेयम् ।

इस प्रकार से यहाँ जघन्याधिकारी की व्यवस्था कहकर अब जो मध्यमाधिकारी होते हैं, उन्हें अपनी चित्तचञ्चलता दूर करने के लिए अपने स्वरूप का ज्ञान एवं प्रभुस्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक होता है, इसलिए यदि वैसा ज्ञान उत्पन्न न हुआ हो तो उन्हें किस प्रकार से फल प्राप्त होगा- यह आकांक्षा होने पर आचार्यचरण ऐसे मध्यमाधिकारी को फलप्राप्ति के लिए क्या करना चाहिए इसका प्रकार बता रहे हैं- यह कहने के आशय से प्रभुचरणों ने आगे **स्वस्वरूप** यह वाली पंक्ति लिखी है। मूलश्लोक का अर्थ तो यह है कि, अपने स्वरूप एवं भगवत्स्वरूप का ज्ञान न हो, तो पुष्टिमार्गीय को तो श्रीभागवततत्पर होकर भगवान के पूजा-उत्सव आदि में जुड़ना चाहिए। अर्थात् एकादशस्कन्ध के उनतीसवें अध्याय में उद्धवजी द्वारा *"यथाञ्जसा पुमान्(श्री0भा-11/29/1)"* यह प्रश्न पूछने पर भगवान ने *"हन्त ते कथयिष्यामि(श्री0भा-11/29/8)"* यह कहकर *"कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि(श्री0भा-11/29/9)"* इत्यादि वाक्यों द्वारा जो भगवद्धर्म बताए, उन

भगवद्धर्मों का आचरण उसे करना चाहिए। यद्यपि इस वाक्य के पूर्व भगवान ने अन्य भगवद्धर्म भी बताए हैं परन्तु यदि उन धर्मों को करने में असमर्थता हो तो, *"पृथक्सत्रेण वा(श्री0भा-11/29/11)"* इत्यादि वाक्यों में कहे गए भगवान के उत्सवों एवं *"श्रद्धामृतकथायां मे(श्री0भा-11/19/20)"* इस वाक्य में कहे अनुसार भगवत्पूजा में उसे जुड़ना चाहिए। **मर्यादास्थ** अर्थात् मर्यादाभक्तिमार्गीय के लिए तो ऐसा है कि, चूँकि भगवच्चरण प्राप्त करने वाली गंगा के निकट परीक्षित एवं विदुरजी को सिद्धि प्राप्त हुई है अतः मर्यादाभक्तिमार्गीयों को गंगा के निकट श्रीभागवततत्पर होकर रहना चाहिए। जब पुष्टिमार्गीय एवं मर्यादामार्गीय भक्त उक्त प्रकार से जीवनयापन करते हैं, तब उन उन पुष्टिमार्गीयों को या मर्यादामार्गीयों को अपने अपने मार्ग में उपयोगी ज्ञान प्राप्त करने रूप सहकारिसंपत्ति(अपने स्वरूप का ज्ञान एवं प्रभुस्वरूप का ज्ञान)प्राप्त होती है- यह जान लेना चाहिए।

ननु यथा मर्यादामार्गीयस्य गङ्गायामिति सामीप्यसप्तम्या स्थितिदेश उक्तः, तथा पुष्टिमार्गिणो नोक्त इति स कुत्र तिष्ठेदित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाहुः पुष्टीत्यादि । व्याख्यानं तु स्फुटार्थम् । ननु भवत्वेवम्, तथापि तयोः किं फलमित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति मर्यादास्थावित्यादि । आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्येत्यनेन मूलस्थस्य क्रमेणेति पदस्यार्थो बोधितः । प्राप्नुत इति द्विवचनम् । तथाच पुष्टिमार्गेऽङ्गीकारे क्रमेण 'चेतस्तत्प्रवण'मित्युक्तमानसीसिद्धौ तस्या यत्फलं तदेव फलम्, यदि मर्यादायामङ्गीकारः, तदा 'भगवान्मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति वाक्याद्भगवत्सायुज्यरूपा मुक्तिरेव । 'हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते' इत्यत्रोक्ता फलिष्यति । 'एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृते'रित्यत्र तथा सिद्धत्वादित्याशय इत्यर्थः ।

किन्तु जिस प्रकार आचार्यचरणों ने मर्यादामार्गीय को **गंगायाम्** इस पद के द्वारा सामीप्य अर्थ में सप्तमीविभक्ति का प्रयोग करके उसे गंगा के निकट के क्षेत्रों में निवास करना बताया, उस प्रकार से आचार्यचरणों ने पुष्टिमार्गीयों के लिए कोई स्थानविशेष नहीं बताया अतः प्रश्न होता है कि, पुष्टिमार्गीय चित्तचञ्चलता को दूर करने के लिए कहाँ रहे ? यह आकांक्षा होने पर आचार्यचरणों ने **पुष्टिमार्गीय तिष्ठेत् पूजोत्सवादिषु** इत्यादि पदों से इसका समाधान किया है- यह बात बताने के आशय से प्रभुचरणों ने **पुष्टिमार्गीये** यह वाली पंक्ति लिखी है। इस पर आपश्री का व्याख्यान तो स्पष्ट ही है। चलो, भले ही मर्यादामार्गीय को गंगा के समीप रहना बताया एवं पुष्टिमार्गीय के लिए कोई देशनियम नहीं बताया और यह कह दिया कि प्रभु अनुग्रह करके उसे जहाँ रखें, वहाँ उसे रहना चाहिए, तथापि, इन दोनों को क्या फल प्राप्त होगा, इसको बताने के लिए आचार्यचरणों ने **उभयोस्तु क्रमेणैव** यह पंक्ति लिखी है- इस बात को बताने के लिए प्रभुचरणों ने **मर्यास्थावपि** यह पंक्ति लिखी है। इस पंक्ति में **आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्य** इत्यादि शब्दों द्वारा प्रभुचरणों ने मूलस्थ **क्रमेण** पद का अर्थ बताया है। प्रभुचरणों द्वारा लिखा **प्राप्नुतः** पद द्विवचन में है, **जिसका अर्थ यह हुआ कि, प्रभुचरण मर्यादामार्गीयज्ञानी एवं मर्यादामार्गीयभक्त इन दोनों के विषय में बता रहे हैं।** इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान मर्यादामार्गीयभक्त को यदि पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत अंगीकार करते हैं, तो उसे क्रमपूर्वक "चेतस्तत्प्रवणं" इस कारिका द्वारा कही मानसीसेवा सिद्ध हो जाने के पश्चात् मानसीसेवा का जो फल होता है, वह फल प्राप्त होगा, और यदि भगवान ने उसे मर्यादामार्ग में अंगीकार किया है, तब तो *"भगवान् मुकुन्दो मुक्तिं(श्री0भा-5/6/18)"* इस वाक्यानुसार भगवान से सायुज्य हो जाने वाली मुक्तिरूप फल ही प्राप्त होता है। अर्थात् *"हृतात्मनो हृत्प्राणांश्च(श्री0भा-3/25/36)"* इस वाक्य में बताया गया फल उसे प्राप्त होता है, इसीलिए "एवं मुक्तिफलानियमः(ब्रह्मसूत्र-3/4/52)" इस ब्रह्मसूत्र के वाक्य में यही बात सिद्ध की गयी है।

ननु साधनसम्पत्तावनुग्रहाद्भक्तिरेव भवतीति यदुक्तं, तत्र किं बीजमित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति एवमित्यादि । तात्पर्यमिति । श्रुतिसूत्रादितात्पर्यम् । मूलार्थस्तु । एवं पुरुषोत्तमप्रापकतया भक्तिमार्गो ज्ञानाधिकः ज्ञानमार्गादुत्कृष्टस्तस्मात् गङ्गादृष्टान्तेन नितरां व्युत्पादनपूर्वकं निरूपितः कथित इति ।

ऊपर जो प्रभुचरणों ने यह कहा था कि "स्वस्वरूपज्ञान एवं प्रभुस्वरूपज्ञान हो जाने रूप सहकारिसंपत्ति प्राप्त हो जाने के पश्चात् भक्त को भगवदनुग्रह के द्वारा अपने-अपने मार्गानुसारी भक्ति ही प्राप्त होगी"- ऐसा आपश्री ने क्यों कहा, इसका कारण बताने के आशय से प्रभुचरणों ने **एवं** से लेकर **तात्पर्यं** तक की पंक्ति लिखी है। इस पंक्ति में प्रभुचरण यह समझा रहे हैं कि, आचार्यचरणों ने जो "अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामकः(**भक्तिमार्ग में भगवान के अनुग्रह से ही सब कुछ होता है**)" यह कहा, उसका तात्पर्य क्या है। ऐसा कहने का तात्पर्य श्रुति, ब्रह्मसूत्र आदि हैं, जिनके आधार पर आचार्यचरणों ने ज्ञानमार्ग

से बढ़कर भक्तिमार्ग को बताया है- यह प्रभुचरण कह रहे हैं। मूलश्लोक(ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः)का अर्थ यह है कि- चूँकि उपर्युक्त विवेचनों के अनुसार पुरुषोत्तम की प्राप्ति कराता होने के कारण भक्तिमार्ग ज्ञानमार्ग की तुलना में उत्कृष्ट है, इसलिए आचार्यचरणों ने गंगा का दृष्टान्त देकर इस बात का भलीभाँति विवेचन किया है। भक्तिमार्ग को ज्ञानमार्ग की तुलना में श्रेष्ठ बताने के लिए गंगादृष्टान्त देने का तात्पर्य यह कि, ज्ञानमार्ग के संदर्भ में भी यही बात सिद्ध होती है, कि जब हृदय में भक्ति हो तब ही देवीरूपा गंगा के दर्शन किए जा सकते हैं, अन्यथा तो बिना भक्ति के केवल आध्यात्मिक या आधिभौतिक रूप के ही दर्शन किए जा सकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि, भक्तिमार्ग ज्ञानमार्ग से श्रेष्ठ है।

तदेतद्व्याकुर्वन्ति लोकेऽधुनेत्यादि । ब्रह्मात्मैक्यज्ञानमिति । ब्रह्मणः स्वात्मनश्च तादात्म्यरूपैक्यज्ञानम् । सर्वज्ञानमिति, प्रपञ्चज्ञानम् । एतावतापीति । स्वात्मनः प्रपञ्चस्य च ब्रह्मात्मकत्वज्ञानेनापि । एवं ज्ञानेपि पुरुषोत्तमसम्बन्धस्य दूरत्वे मानमाहुः अत एवेत्यादि । तथा च यद्यक्षराहंग्रहोपासनतः 'सर्वं ब्रह्मे'त्युपासनतश्च भक्तेस्तन्मार्गीयोपासनायाः स्वविषयकाया आधिक्यं न स्यात्, तदा भगवान् 'मय्यावेश्य मन' इत्यारभ्य स्वोपासकस्य युक्ततमत्वम्, अक्षरोपासकस्य क्लेशम्, सर्वसंन्यासपूर्वकं ये स्वपरास्तेषां शीघ्रं संसारादुद्धारम्, स्वस्मिन्मनोनिवेशनादिना तेषां स्वस्मिन्निवासम्, तदनुकल्पकथनेन तस्यैवावश्यकत्वं च न वदेत्, अतस्तथेत्यर्थः । एतेन ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवमिति व्युत्पादितम् ।

भक्तिमार्ग की अधिकता बताने का ही विवेचन प्रभुचरणों ने **लोके अधुना** इस पंक्ति द्वारा लिखा है। इस पंक्ति में **ब्रह्मात्मैक्यज्ञानम्** का अर्थ है- ब्रह्म एवं अपनी आत्मा के एकमेक हो जाने का ज्ञान। **सर्वज्ञानं** का अर्थ है- प्रपञ्च को अक्षरब्रह्मात्मक समझ लेने का ज्ञान। **एतावतापि** इस पंक्ति का अर्थ है- अपनी आत्मा एवं प्रपञ्च को ब्रह्मात्मक जान लेने के उपरान्त भी ज्ञानियों को पुरुषोत्तमसम्बन्ध हो पाना तो दूर की कौड़ी है। इतने सबका ज्ञान हो जाने के उपरान्त भी ज्ञानियों को पुरुषोत्तम से सम्बन्ध हो पाना क्यों दूरतर है, इसका प्रमाण प्रभुचरणों ने **अतएव** इस पंक्ति द्वारा लिखा है। प्रभुचरणों ने इस पंक्ति में गीतावाक्य का उदाहरण यह बताने के लिए दिया है कि, यदि *"मैं ही अक्षर हूँ"* इस प्रकार से की जाने वाली उपासना की तुलना में और *"सर्वं ब्रह्म"* इसप्रकारक की जाने वाली उपासना की तुलना में भक्ति की और अपनी भगवद्विषयक उपासना की अधिकता न होती तो भगवान "मय्यावेश्य मनः(भ0गी-12/2)" इस वाक्य से आरम्भ करके अपने उपासक को युक्ततम ,अक्षरब्रह्म के उपासक को क्लेश होना(5), सभी कर्मों का त्याग करके अपने में तत्पर हो जाने वाले भक्तों का शीघ्र ही संसार से उद्धार करना(6), भगवान में भक्त अपने मन को निवेशित करे, तो भक्त का उनके मन आदि में ही निवास आदि करने(8) इत्यादि बातें न कहते अतः सिद्ध होता है कि, ज्ञानियों को पुरुषोत्तम से सम्बन्ध प्राप्त नहीं होता- यह अर्थ है। इन सभी उदाहरणों का अनुसन्धान रखते हुए आचार्यचरणों ने **ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः** इस प्रकार से व्युत्पादित किया है।

तस्मान्निरूपित इति विवृण्वन्ति **गङ्गायामित्यादि** । **अग्रिमं स्पष्टम् । अस्मिन्नर्थे श्रुतिमपि प्रमाणत्वेन वदन्ति व्याकुर्वन्ति च । ऋग्वेदेपीत्यादि, हे स्तोतार** इत्यादि च । **गर्भरूपमिति** । **तस्मिन्नर्थरूपतयान्तःस्थितम् । तत्र हेतुः स्वोदरस्थमित्यादि । उपदिष्टवानिति । स्वज्ञापकतया बोधितवान् । एतदुपबृंहितमेकादशस्कन्धे चतुर्दशाध्याये 'कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता । मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ते'ति । एकविंशे च 'मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम् । एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदा । मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदती'ति । शेषमतिरोहितार्थम् ।**

प्रभुचरणों ने आचार्यचरणों के **तस्मान्निरूपितः** पदों का तात्पर्य **गंगायां च...........विद्वद्भिर्ज्ञेयम्** इस पंक्ति द्वारा विवेचन करके समझाया है। इसके आगे के वाक्य तो स्पष्ट ही हैं। भक्तिमार्ग का आधिक्य बताने के लिए ही प्रभुचरणों ने **ऋग्वेदेऽपि** से लेकर **हे स्तोतारः** इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रमाण के रूप में श्रुतिवाक्य भी दिए हैं एवं उसका विवेचन भी किया है। आपश्री द्वारा किए गए ऋग्वेदमन्त्र के विवेचन में **गर्भरूपम्** का अर्थ है- भगवान वेद के भी गर्भरूप/कारणरूप हैं। इसका हेतु आपश्री ने **स्वोदरस्थम्** इस पद का विवेचन करके बताया है। इस पंक्ति में **उपदिष्टवान्** का अर्थ है- भगवान वेद के गर्भरूप इसलिए हैं क्योंकि भगवान ने ही तो अपना स्वरूप बताते हुए ब्रह्माजी को वेद का ज्ञान करवाया था। यही बात एकादशस्कन्ध के चौदहवें अध्याय में भी *"कालेन नष्टा(श्री0भा-11/14/3)"* इस वाक्य द्वारा कही गयी है। इक्कीसवें अध्याय में भी *"मां विधत्तेऽभिधत्ते(श्री0भा-11/21/43)"* इस वाक्य द्वारा बतायी गयी है। इसके बाद की प्रभुचरणों की पंक्तियाँ तो स्पष्ट ही हैं।

एवमत्र मुख्यमध्यमजघन्यातिजघन्याधिकारिकृतसाधनस्य फलपर्यन्तव्यवस्थाकथनेन स्वतन्त्रभक्तिमार्गस्यैवोत्कर्षो व्युत्पादित: । तेन स एव मुख्य:, इतराणि त्वनुकल्परूपाणि जघन्यार्थानि । तत्रापि निष्कपटा तनुवित्तजसेवैव सुगमं साधनमिति साधितम् ।

इस प्रकार से यहाँ तक प्रभुचरणों ने मुख्य-मध्यम-जघन्य-अतिजघन्य अधिकारी एवं उनके द्वारा किए जाने वाले साधनों की फलपर्यन्त व्यवस्था कहने के माध्यम से स्वतन्त्रभक्तिमार्ग**(पुष्टिभक्तिमार्ग)**का ही उत्कर्ष**(महिमा)**व्युत्पादित किया है। **स्वन्त्रभक्तिमार्ग अर्थात् पुष्टिभक्तिमार्ग की महिमा इस प्रकार सिद्ध हुई कि इस मार्ग में तो लोकार्थी, संसारी जैसे न्यूनाधिकारियों का भी अनिष्ट नहीं होता और उनका भी यथासंभव उद्धार होता है।** आपश्री के विवेचन से यह ज्ञात होता है कि, स्वतन्त्रभक्तिमार्ग**(पुष्टिभक्तिमार्ग)**ही मुख्य है और इसके अतिरिक्त अन्य भक्तिमार्गों के साधन तो अनुकल्प**(गौण)** हैं और जघन्याधिकारियों के लिए हैं। इस विवेचन द्वारा आपश्री ने यह बात सिद्ध की है कि, इन सभी साधनों के अन्तर्गत निष्कपटरूप से की जाने वाली तनुवित्तजासेवा ही श्रीकृष्णप्राप्ति का सुगमसाधन है।

अत: परं तनुवित्तजाया यथाकथञ्चित्करणे यदि भक्तिर्न भवति, स्फुटमेव तदा तस्या: किं फलमित्याकाङ्क्षायां वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति गङ्गेत्यादि । व्याकुर्वन्ति भगवदित्यादि । तथा भवतीति । दुष्टैर्निजकर्मभि: पाषण्डितामापन्न: सन् । 'अत्रापि वेदनिन्दायामधर्मकरणात्तथे'ति श्लोकद्वयोक्तरीत्या आरूढपतितो भवतीत्यर्थ: ।

अब तनुवित्तजासेवा जिस प्रकार से करनी बतायी गयी है, उस प्रकार से न हो पाती हो एवं यथासंभव प्रयास करने पर भी हृदय में भक्ति उत्पन्न न होती हो**(अर्थात् सेवा द्वारा हृदय में प्रसन्नता न उत्पन्न होती हो, चित्त प्रवण न होता हो)**तो इसप्रकारक तनुवित्तजासेवा करने का स्पष्टतया**(प्रकट में दिखाई देने वाला)**क्या फल प्राप्त होगा, इस बात को बताने के लिए आचार्यचरणों ने आगे **भक्त्यभावे तु** यह कारिका लिखी है- इस आशय को बताने के लिए प्रभुचरणों ने **गंगादृष्टान्तस्य** वाली पंक्ति लिखी है। इस पंक्ति का विवेचन आपश्री ने **भगवत्सान्निध्यदेशेऽपि** से लेकर **तथा भवति** तक की पंक्ति द्वारा किया है। इसका तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार गंगातीर पर हुए भी व्यक्ति अपने दुष्टकर्मों के कारण पाखण्डी बन जाता है; वैसे ही यदि हृदय में भक्ति उत्पन्न न होती हो, तो सेवाकर्ता भी *"वेदनिन्दा की हो और अधर्म का आचरण किया हो, तो उसका नरक में गिरना योग्य है परन्तु भगवन्नाम नरक का विरोधी है अतः ऐसा व्यक्ति नरक में तो नहीं गिरता परन्तु शूद्र इत्यादि हीन योनियों में जन्म लेता है(सर्व-216)"* इन दो श्लोकों में कहे अनुसार यदि भक्ति उत्पन्न न भी हुई हो,तब भी चूँकि उसने भगवत्सेवा की है अतः अंतर इतना पड़ता है कि वह आरूढपतित हो जाता है- यह अर्थ है। आरूढपतित= लौकिक में फँसा रहने वाला। जो प्रयत्न करने के उपरान्त भी लौकिक का त्याग करके भगवत्सेवा में चित्त न लगा पाए।

एतच्छ्लोकोक्तितात्पर्यमाहु: एतेनेत्यादि । तथा च भक्त्यभावे सर्वं व्यर्थमिति बोधनार्थमेतदुक्तिरित्यर्थ: । उपसंहारश्लोकस्तु प्रसिद्धार्थत्वान्न व्याख्यात: । परं तदारम्भस्थ एवंशब्दस्त्वतिदेशपरत्वेन बोधित इति स देहलीदीपवदुभयत्राप्यन्वेतीति बोध्यम् ।

भक्त्यभावे तु इस श्लोक में जो बताया गया है, उसका तात्पर्य प्रभुचरणों ने **एतेन** इस पंक्ति में लिखा है, यानि इस पंक्ति में प्रभुचरणों ने यह कहा है कि, बीसवीं कारिका(**भक्त्यभावे तु**)के द्वारा आचार्यचरण यह बता रहे हैं कि, यदि हृदय में भक्ति न हो तो तनुवित्तजासेवा, अन्यान्य साधन इत्यादि करने सभी कुछ व्यर्थ हैं। उपसंहार के श्लोक का अर्थ तो सभी को सुगम है अतः प्रभुचरणों ने इसका व्याख्यान नहीं किया, किन्तु ध्यान देना चाहिए कि इसमें प्रयुक्त **एवं** शब्द अब तक कह आये उपर्युक्त समस्त विवेचनों का तो द्योतक है ही, साथ ही साथ इस कारिका के संग भी जुड़ता है अतः **एवं** पद का अन्वय इन दोनों ही प्रकारों से किया जा सकता है- यह समझना चाहिए।

एवं सर्वं ग्रन्थं विवृत्योपसंहरन्ति इतिश्रीत्यादिश्लोकेन । अत्र हृदये दधाविति कथनेन स्वयमेव सम्यग्विचारिता, नत्वनधिकारिण: प्रति स्पष्टीकृतेत्यपि बोधितम् ।

इस प्रकार से पूरे ग्रन्थ का विवेचन करके **इति श्री** इस कारिका द्वारा प्रभुचरण अपने विवेचन का उपसंहार कर रहे हैं। इस कारिका में प्रभुचरणों ने **हृदये दधौ** यों कहा है, जिसके द्वारा आपश्री ने यह बोध कराया है कि, आपश्री ने इन सभी विषयों का स्वयं अपने लिए ही भलीभाँति विचार किया है, अनधिकारियों की शंकाओं का स्पष्टीकरण करने के हेतु से नहीं।

अत्रेदं सिद्धम् । (यस्य भगवति कृष्णे परब्रह्मत्वेन ज्ञानं भगवदनुग्रहेण दृढम्, तथा विश्वासो भक्तिश्च स्वत:सिद्धा, तस्य)

अस्मिन् शास्त्रे तनुवित्तजा सेवैव प्रथमं साधनम् । सा चेन्निबन्धोक्तप्रकारिका भवति, तदा लौकिकविषयवैराग्यादिना संसारदुःखं निवर्तयन्ती भगवदधिष्ठानत्वेनाक्षरं बोधयन्ती 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'त्युक्तसर्वात्मभावरूपां मानसीं साधयति । तस्याः सम्पत्तौ च बहिर्भगवत्प्राकट्ये भगवदेकतानतातः कामचारो [1]भवति, (नान्यथा । अतः साधनसेवां कुर्वता ब्रह्मवादेन भगवति बुद्धिर्विधेयेति मुख्या आद्यसाधनकक्षा ।) एषैव निबन्धे 'ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः पर' इति सावतारणिकया कारिकयोक्ता । तस्यां च स्वस्य सेवकत्वेन ज्ञानमेवोपयोगीति च ।

इन समस्त विवेचनों के प्रकाश में यह सिद्ध होता है कि, जिस जीव को भगवदनुग्रह के कारण कृष्ण को परब्रह्मस्वरूप से जान लेने का ज्ञान दृढ होता है और भगवदनुग्रह से ही इस प्रकारक विश्वास और श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति बीजभाव के कारण अपने आप ही सिद्ध हो जाती है अर्थात् जिसका बीजभाव ही ऐसा है, उसके लिए तो इस सिद्धान्तमुक्तावली शास्त्र में तनुवित्तजासेवा को ही प्रथमसाधन बताया गया है; और यदि तनुवित्तजासेवा निबन्ध में कहे अनुसार हो रही है(यानि "विशिष्टरूपं वेदार्थः(सर्व-220)" से लेकर "धनं सर्वात्मना(सर्व-252)" यहाँ तक के श्लोकों तक में बतायी गयी सेवा), तब तो ऐसी सेवा लौकिकविषयों से वैराग्य आदि करवा कर संसारदुःखों का निवारण करती हुई अक्षरब्रह्म को भगवान के अधिष्ठानरूप से बोध कराती हुई 'चेतस्तत्प्रवणं सेवा' इस कारिका में कहे अनुसार सर्वात्मभावरूपा मानसीसेवा को सिद्ध करती है और मानसीसेवा सिद्ध हो जाने पर भगवान के बाहर प्रकट होने पर भगवान से एकमेक हो जाने पर उसे मनोवांछित की पूर्ति होती है, अन्यथा नहीं। अतः साधनसेवा(तनुवित्तजा)करते हुए ब्रह्मवाद का अनुसन्धान रखते हुए भगवान श्रीकृष्ण में बुद्धि जोड़नी चाहिए- यह मुख्य पहली साधन कक्षा है। यही साधनकक्षा निबन्ध में आचार्यचरणों ने *"ज्ञानी चेद्भजते(शा0प्र-14)"* इस कारिका द्वारा बतायी है। ध्यातव्य है कि इस निबन्धकारिका में 'ज्ञानी' का अर्थ शुद्धमर्यादामार्गीयज्ञानी नहीं है अपितु 'ज्ञानीभक्त' है। इस पहली साधनकक्षा में अपने आप के लिए मात्र ब्रह्म का अंश होना जान लेना ही नहीं अपितु खुद के भगवत्सेवक होने का ज्ञान ही उपयोगी होता है। ब्रह्मवाद= सभी कुछ ब्रह्म ही है । ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रयी है। अविकृतपरिणामवाद इत्यादि। भगवान हरि ही समस्त फलप्रदाता हैं। तनुवित्तजासेवा, मानसीसेवा इत्यादि सभी ब्रह्मवाद के सिद्धान्त हैं।

अत्रानधिकारे तु मर्यादापुष्टस्य विविक्तं जीवस्वरूपज्ञानमावश्यकम् । तस्मिन् सति शुद्धस्य स्वात्मनोऽक्षरब्रह्मात्मकत्वे स्वस्मिन्नन्तरेव भक्त्या कृष्णं पश्यति । तेनाग्रे पुरुषोत्तमसायुज्यमिति मध्यमा साधनकक्षा । तेन तादृशा सेवां कुर्वता जीवभगवत्स्वरूपयोर्ज्ञानार्थं पूर्वं यतनीयम् ।

इस कक्षा से निचली कक्षा का भक्त जिसका ऊपर बतायी कक्षा में अधिकार नहीं है, ऐसे मर्यादापुष्टिभक्त के लिए वैराग्ययुक्त जीवस्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक होता है। जीवस्वरूप का ज्ञान हो जाने पर वह अपने आप को अक्षरब्रह्मात्मक जान लेता है और भक्ति द्वारा अपने भीतर ही कृष्ण के दर्शन कर लेता है, जिसके द्वारा आगे चलकर उसे पुरुषोत्तम का सायुज्य प्राप्त होता है- यह मध्यमकक्षा है। इसलिए ऐसे मध्यमाधिकारी को सेवा करते हुए सर्वप्रथम जीवस्वरूप का ज्ञान एवं भगवत्स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए।

यस्यात्राप्यनधिकारः, स संसारी स्वशरीरपुत्रवित्तादिष्वभिमानवान् । स तु सेवां कुर्वन् भगवदुपयोगिपदार्थालाभेन दुःखभाग्भवति । तेन सम्यक्सेवानिर्वाहो न भवतीति तेन संसारासक्तिनिवारणार्थं स्वप्रतिष्ठस्य लीलाविशिष्टस्य भगवतश्चिन्तनं विशेषेण कार्यमिति तृतीया जघन्या कक्षा ।

जिस जीव का इसप्रकारक भी अधिकार नहीं है, ऐसा जीव 'संसारी' कहा जाता है, जिसे अपने शरीर, पुत्र,धन इत्यादि का अभिमान होता है, ऐसा संसारीजीव तो भगवत्सेवा करते हुए भी जब उसे भगवदुपयोगी पदार्थ प्राप्त नहीं होते तो वह दुःखी होता रहता है(इसका तात्पर्य यह है कि, यदि स्वाभाविक प्रवृति भगवद्भजन करने में न हो और संसारासक्ति बनी रहे या लौकिकपदार्थों की कामनाओं की इच्छा बनी रहे तो भले ही वह भगवद्भजन करता हो, तथापि, अंततोगत्वा तो उसका चित्त संसार में लगा हुआ है अतः वह प्रभु से दूर ही है, इसलिए इस प्रकारक भगवद्भजन करने पर भी उसे भगवत्प्राप्ति नहीं

---

[1] इति मुख्याधिकारिणः फलपर्यन्ताः कक्षाः । यस्य तु न तादृशोऽधिकारः, तेन तु भगवति परब्रह्मत्वज्ञानाद्यर्थं साधनसेवां कुर्वता ब्रह्मवादेन भगवति बुद्धिर्विधेया । अतः पूर्वोक्तरीत्या सैव कार्येति ततः किञ्चिन्न्यूना साधनकक्षेति पाठान्तरं भाति ।

होती, अलौकिक अनुभव नहीं होते, एतन्मार्गीयफल प्राप्त नहीं होते, इस कारण वह दुःखी होता रहता है)। इसलिए यदि शरीर, पुत्र, धन इत्यादि में चित्त लगा रहे तो, उससे भलीभाँति सेवा का निर्वाह नहीं होता इसलिए उसे अपनी संसारासक्ति दूर करने के लिए अपने भीतर लीलाविशिष्टरूप से बिराजे हुए भगवान का विशेषरूप से चिन्तन करना चाहिए- यह तीसरी जघन्य कक्षा है।

यस्य पुनः संसारिणो लोकार्थिता न निवर्तते, स चेद्भगवत्सेवां यथोक्तप्रकारेण तनुवित्ताभ्यां करोति, तस्य परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा प्रभुकृतेन विलम्बेन संसारविषयाल्लोकादेव क्लेशो भवति, तथापि चेत्सेवां न त्यजति, तदा आसक्तिविषयो लोको नश्यति । तादृगधिकारी चेत्पुष्टिमार्गीयः, तदा तेन श्रीभागवतपाठश्रवणपरतया स्थित्वा यत्र कुत्रचिद्देशविशेषे पूजोत्सवादिकं कर्तव्यम् । मर्यादामार्गीयश्चेत्, गङ्गातीरे स्थित्वा तेन श्रीभागवतश्रवणपठनावृत्तिर्यथाधिकारं कर्तव्येति चतुर्थी कक्षा । तयोरुभयोरपि यथाधिकारं स्वल्पेन महता वा क्रमेण तत्प्रवणं चेतश्चेत् यथाधिकारं सिध्यति । तस्य वैकुण्ठादिषु सेवौपयिकदेहप्राप्तिः फलति, न तु सायुज्यम् ।

और जिस संसारी की लोकार्थिता दूर नहीं होती, वह यदि कहे अनुसार तनुवित्तजासेवा के द्वारा अपनी लोकार्थिता को दूर करने का प्रयास करता है, तो ऐसे जीव की परीक्षा लेने के हेतु से अथवा उसे उसके प्रारब्ध का भोग कराने के हेतु से प्रभु जब फलदान में विलम्ब करते हैं, तो उस विलम्ब के कारण सांसारिकविषयों से यानि इस लोक से ही उसे क्लेश प्राप्त होता है, किन्तु इतने पर भी यदि वह सेवा करना नहीं छोड़ता तब जाकर उसका लोक नष्ट होता है, जिसमें उसकी आसक्ति थी। ऐसा अधिकारी यदि पुष्टिमार्गीय हो तो, उसे श्रीभागवत का पाठ, भगवच्छ्रवण इत्यादि में तत्पर रहते हुए जो कोई भी देश/स्थान हो, वहाँ भगवान की पूजा-उत्सव इत्यादि करना चाहिए। और, यदि वह मर्यादापुष्टिमार्गीय हो, तो उसे गंगा के तीर रहकर श्रीभागवत का पाठ, उसका श्रवण-पठन-जप जैसा भी उसका अधिकार हो, वैसा करना चाहिए- यह चौथी कक्षा है। इन दोनों को उनके अधिकारानुसार अल्पक्रम में या दीर्घक्रम में क्रमशः यदि चित्त की भगवान में प्रवणता सिद्ध हो जाती है, तो ऐसों को वैकुण्ठादि में भगवत्सेवोपयोगी देह की प्राप्ति फलित होती है, सायुज्य प्राप्त नहीं होगा।

यस्य तु तन्वादिभिः सेवाकरणे भक्तिरपि न भवति, स तु पञ्चमः आरूढपतितो जन्म प्राप्नुवन् संसाराभिनिवेशशैथिल्ये बहुजन्मभिर्मुच्यते । संसारात्यन्ताभिनिवेशे तु मुक्तिरपि न भवतीति । तस्मात्संसारावेशं त्यजता भक्त्यर्थं तनुवित्तजसेवायां पूर्वं यतनीयमिति ।

किन्तु, जिस जीव को तनु आदि से सेवा करने पर भी उसमें भगवान के प्रति भक्ति उत्पन्न नहीं होती, वह तो पांचवीं कक्षा के अन्तर्गत आने वाला आरूढपतित है, जो जन्म प्राप्त करता रहता है और जब कभी भी उसका संसाराभिनिवेश शिथिल पड़ता है, तब कई जन्मों में जाकर वह मुक्त होता है। किन्तु यदि वो संसार में अत्यधिक अभिनिविष्ट हो, तब तो मुक्ति होनी भी संभव नहीं बनती। इस कारण संसारावेश को त्यागते हुए भक्ति प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम तनुवित्तजासेवा करने का यत्न करना चाहिए।

(तत्रायं प्रकारः । तन्वादिभिः सेवां कुर्वतोऽधिकारभूतमात्मनिवेदनमावश्यकम् । तत्कृत्वा सेवाकरणे पूर्वदोषनिवृत्तिः, अग्रिमदोषासंसर्गश्च । सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या असमर्पितवर्जनादिरूपं बहिरंगं साधनं संपत्तावावश्यं करणीयम् । आपत्तौ तु नवरत्नोक्तरीत्या करणीयम् । भगवदपराधे जाते त्वन्तःकरणप्रबोधोक्तरीत्या भावनीयम् । विवेकधैर्याश्रयोक्तरीत्या विवेकादिरपि संपादनीयः । ततो विश्वासे दृढे सति भक्तिवर्धिन्युक्तरीत्या भक्तिबीजस्य दार्ढ्यं संपादनीयम् । अदृढबीजभावे तु निबन्धोक्तरीतिकपूजा परिचर्यादिभिः, नामावलीपाठेन च प्रेमासक्तिव्यसनानि संपादनीयानि । ततो व्यसनदार्ढ्ये सिद्धे प्रेम्णि दृढ जाते च संन्यासनिर्णयोक्तरीत्या त्यागो विधेयः । तत्रानधिकारे तत्र प्रतिबन्धे वा भक्तिवर्धिन्युक्ता अनुकल्पा विधेयाः । ततो भगवत्प्रसादे निरोधलक्षणोक्तरीत्या निरोधोत्कर्षसिद्धिः । ततः फलसिद्धिरिति तच्चरणदासैर्विभावनीयम् । अन्येपि ग्रन्था अत्रैव शेषत्वेन यथासंभवं योजनीया इति दिक् ।)

इति श्रीप्रभुपादाब्जैः प्रसादप्रेरणादिह ।
स्वीयसिद्धान्तवांगमाला कृपया संप्रकाशिता ।।१।।
इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानस्य श्रीविट्ठलेशप्रसादप्राप्तदृशः ।
पीताम्बरात्मजस्य पुरुषोत्तमस्य कृतौ श्रीमदाचार्यसिद्धान्तवांगमालाप्रकाशः संपूर्णः ।।

सेवा करने का प्रकार यह है कि, तनु आदि से भगवत्सेवा करने वाले के लिए सेवा करने का अधिकार देने वाला आत्मनिवेदन करना आवश्यक होता है। आत्मनिवेदन कर लेने के पश्चात् भगवत्सेवा करने से पूर्वदोषों की निवृत्ति हो जाती है एवं आने वाले दोषों का संसर्ग भी नहीं होता। साथ ही साथ यदि अनुकूलता हो, तो सिद्धान्तरहस्यग्रन्थ में कही रीति अनुसार असमर्पित का त्याग जैसे बाह्यसाधन भी अवश्य करने चाहिए। और यदि कोई आपत्तिकाल आ पड़े तो नवरत्नग्रन्थ में कहे अनुसार करना चाहिए**(अर्थात् सबकुछ भगवदिच्छा मानकर चिन्ता त्याग कर तब केवल नामस्मरण करना चाहिए)**। यदि सेवा करते करते कोई भगवदपराध बन जाय तो अन्तःकरणप्रबोध में कही रीति अनुसार पश्चातापनिवृत्ति की भावना करनी चाहिए। साथ ही साथ, विवेकधैर्याश्रयग्रन्थ में कही रीति अनुसार विवेक आदि भी रखना चाहिए। इन सभी को करने के द्वारा जब विश्वास दृढ बन जाय, तब भक्तिवर्धिनी में कही रीति अनुसार भक्तिबीज को दृढ बनाना चाहिए। यदि अदृढबीजभाव हो, तो निबन्ध में कही रीति अनुसार भगवान की परिचर्या आदि के द्वारा एवं त्रिविधनामावली के पाठ द्वारा प्रभु के प्रति प्रेम-आसक्ति-व्यसन उत्पन्न करना चाहिए। जब व्यसन सिद्ध हो जाय और भगवान के प्रति प्रेम दृढ बन जाय, तो संन्यासनिर्णय में कही रीति अनुसार त्याग करना चाहिए। यदि त्याग करने का अधिकार उत्पन्न न हुआ हो या कोई प्रतिबन्ध आ जाय, तो भक्तिवर्धिनी में कही रीति अनुसार त्याग के अनुकल्प करने चाहिए। इन सबके पश्चात् जब भगवत्कृपा होगी, तब निरोधलक्षणग्रन्थ में कही रीति अनुसार निरोध फलीभूत होता है, जिसके द्वारा फलसिद्धि होती है- इस प्रकार से आचार्यचरणों के दासजनों को मन में भावना करनी चाहिए। आचार्यचरणों के अन्य ग्रन्थ भी इसी प्रकार यहीं यथासंभव जोड़ लेने चाहिए।

श्रीप्रभुचरणकमलों की प्रसन्नतारूप प्रेरणा द्वारा यह निजसिद्धान्तवांगमाला उनकी कृपा से मैंने प्रकाशित की ॥1॥

यह श्रीवल्लभाचार्यचरणों में एकनिष्ठ श्रीविट्ठलेशप्रभु के कृपापात्र पीताम्बरात्मज पुरुषोत्तम द्वारा की गयी
श्रीमदाचार्यचरणों के सिद्धान्तों की वांगमाला पर किया गया 'प्रकाश' सम्पूर्ण हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः

सिद्धान्तमुक्तावली ।

दीक्षितश्रीलालूभट्टकृतव्याख्यासमेता ।

श्रुत्येकसिद्धश्रृङ्गारमूर्तिमानन्दविग्रहम् । गोवर्धनधरं वन्दे श्रीराधाप्राणवल्लभम् ।।१।।
नमामि श्रीमदाचार्यान् प्रभूञ्छ्रीविट्ठलेश्वरान् । यत्कृपातो व्रजाधीशसेवनं प्राप्नुयान्नरः ।।२।।

अथ सकलसच्छास्त्रसारज्ञाः श्रीवल्लभाचार्यचरणा दैवजीवानामज्ञानान्यथाज्ञाननिष्ठानां भगवत्सेवनाप्रवृत्तिं तया च तदकृतार्थतामवलोक्य परमकृपालवस्तज्जनुस्साफल्याय श्रुतिगीताव्याससूत्रसमाधिभाषासिद्धं स्वसिद्धान्तं निरूपयन्ति **नत्वा हरिमि**त्यादिना ।

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम् ।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ।।१।।

कृष्णसेवेति । 'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः', 'नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः', 'मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुरि'त्यादिवचस्सहस्रैः सेवाया मोक्षादप्युत्कृष्टत्वेन परमपुरुषार्थत्वम् । अतः सैव कार्या । तत्र कीदृशी सेवा विवक्षितेति तामाहुः **मानसी सेति** । यथा मर्यादाभक्तिमार्गे मुक्तिः फलं, तथात्र सेवा स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपा मानसी फलमित्याशयः ।।१।।

एकमात्र श्रुति से सिद्ध श्रंगारमूर्ति, आनन्दविग्रह, श्रीराधाप्राणवल्लभ गोवर्धनधर को मैं वन्दन करता हूँ॥1॥

श्रीमदाचार्य एवं प्रभुश्रीविट्ठलेश्वर को नमन करता हूँ, जिनकी कृपा से जीव व्रजाधीश की सेवा प्राप्त करता है॥2॥

समस्त सच्छास्त्र के सार के ज्ञाता परमकृपालु श्रीवल्लभाचार्यचरण अज्ञान और अन्यथाज्ञान के कारण दैवीजीवों की भगवत्सेवा में प्रवृत्ति होती न देखकर एवं इस कारण होने वाली उनकी अकृतार्थता को देखकर उनका जन्म सफल बनाने के लिए श्रुति-गीता-व्याससूत्र-समाधिभाषा द्वारा सिद्ध किए अपने सिद्धान्त का निरूपण **नत्वा हरिं** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। **कृष्णसेवा** इत्यादि पदों की व्याख्या करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, *'दीयमानं न गृह्णन्ति विना(श्री0भा-3/29/13)','नेच्छन्ति सेवया(श्री0भा-9/4/67)','मधुद्विट्(श्री0भा-5/14/44)'* इत्यादि सहस्रवचनों के अनुसार भगवत्सेवा मोक्ष से भी उत्कृष्ट होने के कारण परमपुरुषार्थ है। अतः कृष्णसेवा ही करनी चाहिए। आपश्री को किस प्रकार की सेवा बतानी है- यह **मानसी सा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि, जिस प्रकार मर्यादाभक्तिमार्ग में मुक्ति मिलनी फल है, उसी प्रकार यहाँ पुष्टिमार्ग में सेवा अर्थात् स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपा मानसी फल है- यह आशय है ॥1॥

सेवां लक्षयन्ति **चेतस्तत्प्रवणमिति** ।

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा ।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् ।।२।।

तच्छब्देन पूर्वोक्तः कृष्णः परामृश्यते, 'पटोलपत्रं पित्तघ्नं नाडी तस्य कफापहे'त्यादाविवैकदेशान्वयस्वीकारात् ।

सेवा के लक्षण आपश्री **चेतस्तत्प्रवणं** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं।

यहाँ **तत्** शब्द का अर्थ पूर्वश्लोक में कहा 'कृष्ण' पद समझना चाहिए। **यद्यपि तत्** शब्द पूर्वपरामर्शक होता है अतः **तत्** शब्द का अर्थ सामान्यतया इसके पूर्व में आया **कृष्णसेवा** यों संपूर्ण पद लिया जाना चाहिए था, परन्तु यहाँ **तत्** शब्द का तात्पर्य केवल 'कृष्ण' से है; ऐसा अन्वय इसलिए किया जा सकता है क्योंकि जिस प्रकार आयुर्वेद के '*परवल का पत्ता पित्त का नाश करने वाला होता है एवं परवल की नाड़ी कफ़ का(वैद्य निघण्टु)*" इस वाक्य में एक पद के संग ही('पटोलपत्र' शब्द में से केवल 'पटोल' पद के संग ही)शेष वाक्य का अन्वय किया गया है, उस प्रकार कहीं कहीं समास के केवल एक पद के संग भी अन्वय किया जाता है, यह समझना चाहिए।

तथाच कृष्णप्रवणं चेतः सेवा । 'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् । सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या । अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी'ति लक्षणवाक्ये मनोवृत्तेरेव भक्तित्वेन कथनाद् वृत्तेश्च कारणानतिरेकात् ।

तस्तादृशी चित्तवृत्तिर्मानसी सेवेति फलितम् । अत एव चेतस्तत्प्रवणमित्यस्याभासे श्रीमत्प्रभुचरणैरुक्तं थेत्यारभ्यैतदेव सेवास्वरूपमित्याहुरित्यादि । अत एवाथर्वणे 'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येन न:कल्पनमि'ति श्रूयते । अत्रापि मनसः कल्पनं भक्तिरित्युक्त्या तादृक्चित्तस्यैव भक्तित्वमायाति । क्तिमीमांसासूत्रेपि 'सा परानुरक्तिरीश्वर' इति लक्षणेन चित्तधर्मस्यानुरागस्यैव भक्तित्वमुक्तम् । धर्मधर्मिणोरभेदात् ।

न प्रकार से अन्वय करने का अर्थ यह है कि, चित्त का कृष्ण में प्रवण हो जाना सेवा है। **यद्यपि आचार्यचरणों ने मन का ष्ण में प्रवण हो जाने को भक्ति कहा है,** जबकि *'देवानां गुणलिंगानां(श्री0भा-3/25/32)'* इस भक्ति का लक्षण बताने वाले क्य में तो **मन की वृत्ति का** भगवान में लग जाने को भक्ति कहा गया है, परन्तु फिर भी, चूँकि वृत्ति अपने कारण से न्न नहीं मानी जाती इसलिए यहाँ मन की प्रवणता कहने का अर्थ मनोवृत्ति की ही प्रवणता को कहना है। अतः ऊपर भागवतवाक्य में बतायी गयी चित्तवृत्ति को ही आचार्यचरणों ने मानसीसेवा के रूप में बताया है- यह फलितार्थ है। तएव **चेतस्तत्प्रवणं** की व्याख्या करते हुए प्रभुचरणों ने **यथा** से लेकर **एतदेव सेवास्वरूपमित्याहुः चेतः** यह पंक्ति लिखी अतएव अथर्वोपनिषद् में भी *"भक्तिरस्य भजनं(गोपालतापिनी उप-1) "* यों कहा गया है। इस श्रुति में भी 'मन को ब्रह्म कल्पित करना(**जोड़ना**)भक्ति है' यह कहा गया है अतः इस श्रुति में भी मन को ही ब्रह्म में जोड़ने को भक्ति कहा गया है तः ऐसे चित्त को भक्ति कहा जायेगा। भक्तिमीमांसासूत्र में भी *'सा परानुरक्तिरीश्वरे(शां0भ0सू-1/1/2)'* इस लक्षण द्वारा चित्त धर्म अनुराग/अनुरक्ति को ही भक्ति कहा गया है, क्योंकि धर्म और धर्मि में भेद नहीं होता **अर्थात् यदि अनुरक्ति चित्त का र्म है और अनुरक्ति को भक्ति कहा गया है तो इसका फलितार्थ यह हुआ कि अनुरागयुक्त चित्तवृत्ति भी भक्ति है।**

क्तिशब्देन च सेवैव विवक्षिता । 'भज सेवायामि'ति धात्वर्थात् । 'विना मत्सेवनं जना' इत्युक्त्वा 'स एव क्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत' इत्युदीरितत्वाच्च । पूर्वमपि 'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तम' इत्युक्तम् । तो भक्तिशब्देन मुख्यतया मानसी सेवैवायाति[1] । सा केन साधनेन सम्पद्यते[2] इत्याकाङ्क्षायामाहुः तत्सिद्ध्या इति । हशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया', 'तव परि ये चरन्ति', 'आदरः परिचर्यायाम्', 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं दसेवनम्', 'करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु', 'शावौ करौ नो कुरुतः सपर्याम्' 'करौ च तत्कर्मकरौ श्चे'त्यादिवाक्यैस्तनुजसेवायाः 'सर्वलाभोपहरणमि'त्यादिवचोभिर्वित्तजायाश्च 'तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो चः । नृणां येन हि विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः', 'मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि न' इत्यादिवाक्यैरुभयोश्च गत्वावगतेः । इह ग्रन्थे विधेयांशः सेवा, शिष्टो ग्रन्थस्तदुपपादनार्थः ।

पर कहे वाक्यों में 'भक्ति' शब्द का अर्थ सेवा ही है, जैसा कि *'भज सेवायाम्(धातु पाठावली-998)'* इस धातु-अर्थ और *'देवानां गुणलिंगानां(श्री0भा-3/25/32)'* इस वाक्य में बताया गया है। और जैसा कि *'विना मत्सेवनं नाः(श्री0भा-3/29/13)'* यह कहकर *'स एव भक्तियोगाख्य(श्री0भा-3/29/14)'* यह भगवान ने कहा भी है। इसके पहले भी हैतुक्यव्यवहिता या(श्री0भा-3/29/12)" यह कहा है। अतः इन वाक्यों में भक्ति शब्द से मुख्यतया मानसीसेवा अर्थ ही मने आता है। अब मानसीसेवा किन साधनों द्वारा संपन्न होगी, यह आकांक्षा होने पर आचार्यचरण **तत्सिद्धयै वित्तजा** इत्यादि पदों से बता रहे हैं। आचार्यचरणों ने '*तनुवित्तजा द्वारा मानसीसेवा सिद्ध होती है*' ऐसा इसलिए कहा योंकि *"गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यमायया","तव परि ये चरन्ति(श्री0भा-10/87/27)","आदरः परिचर्यायाम्(श्री0भा-/19/21)","श्रवणं कीर्तनं विष्णोः(श्री0भा-7/5/23)","करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु(श्री0भा-10/87/27)","शावौ करौ (श्री0भा-2/3/21)","करौ च तत्कर्मकरौ(श्री0भा-10/80/3)"* इत्यादि वाक्यों में तनुजासेवा और *र्वलाभोपहरणम्(श्री0भा-11/11/35)"* इस वाक्य द्वारा वित्तजासेवा और साथ ही साथ *"तज्जन्म तानि कर्माणि(श्री0भा-31/9)","मुकुन्दसेवौपयिकम्(श्री0भा-5/19/21)"* इत्यादि वाक्यों द्वारा दोनों ही प्रकार की सेवा शास्त्रों में भी बतायी गयी इस कारिका में तो आचार्यचरणों ने भगवत्सेवा करने का विधान किया है और इसके अतिरिक्त शेष ग्रन्थ में भगवत्सेवा विषय में बताया है।

'ब्रह्मविदाप्नोति परमि'ति श्रुत्या पुरुषोत्तमप्राप्तौ ब्रह्मवित्त्वस्य कारणत्वोक्तेर्ज्ञानमवश्यं सम्पादनीयम् । तच्च

आगतेति पाठः । २. स्यादिति

वेदान्तश्रवणमननादिसाध्यम् । तानि च बहुकालसाध्यानि । इह तु सदा कृष्णसेवा कार्येत्युपदेशादवकाशाभावान्मननादिसाधनासिद्धेर्ज्ञानासिद्धिरित्याशङ्क्योत्तरं ब्रुवन्ति ततः संसारदुःखस्येत्यादि । ततस्तनुवित्तजसेवात एव संसारदुःखस्याज्ञानकार्यस्य नाशो, ब्रह्मज्ञानं चावान्तरफलं भवति । 'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पत' इति वाक्यात् । 'इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोध'इत्यादिवचनाच्च । अत एवोक्तं तत इत्यस्याभासे टीकायां श्रीमत्प्रभुचरणैरेतादृशस्यावान्तरफलं भवतीत्याहुरित्यनेन ।।२।।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, *"ब्रह्मविदाप्नोति परम्(तै0उप-2/1)"* यह श्रुति तो पुरुषोत्तमप्राप्ति के लिए ब्रह्मज्ञान को मूलकारण के रूप में बताती है, अतः ब्रह्मज्ञान अवश्य प्राप्त होना चाहिए; जबकि ब्रह्मज्ञान तो वेदान्त का श्रवणमनन इत्यादि के द्वारा सिद्ध होगा; और श्रवणमनन तो बहुकाल में जाकर सिद्ध होते हैं, जबकि यहाँ तो आचार्यचरण सदा ही कृष्णसेवा करने का उपदेश दे रहे हैं, तो प्रश्न यह होता है कि, श्रवणमनन आदि साधन सिद्ध करने को अवकाश ही कहाँ है ! और जब ये साधन ही सिद्ध नहीं होंगे तो ब्रह्मज्ञान भी कैसे हो पायेगा !! तो आचार्यचरण इसका स्पष्टीकरण **ततः संसारदुःखस्य** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। ततः का अर्थ है, तनुवित्तजसेवा के द्वारा ही 'अज्ञान द्वारा उत्पन्न हुए संसारदुःख का नाश' एवं 'ब्रह्मज्ञान'- ये दो अवान्तरफल प्राप्त हो जाते हैं। जैसा कि *"मां च योऽव्यभिचारेण(भ0गी-14/26)"* इस वाक्य में और *"इत्यच्युतांघ्रिं(श्री0भा-11/2/43)"* इस वाक्य में भी बताया गया है। इसी कारण प्रभुचरणों ने भी इस कारिका का अर्थ करते हुए अपनी टीका में "*तनुवितजासेवा करने वाले को ये दोनों अवान्तरफल प्राप्त होते हैं*" ऐसा लिखा है ॥2॥

ज्ञानविषयस्य ब्रह्मणो रूपभेदानभिदधतः कृष्णे मूलरूपत्वं वदन्ति परं ब्रह्म त्विति ।

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ।
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम् ।।३।।
अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः ।
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा ।।४।।
तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम् ।
द्विरूपं चापि गङ्गावज्ज्ञेयं सा जलरूपिणी ।।५।।
माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा ।
मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम् ।।६।।

'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत' इति निर्वचनात् । इयं हि श्रुतिरेव । नारायणकृतौ गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्दीपिकायाम् – तत्रादौ कृष्णशब्दार्थनिर्णयमाह – कृषिर्भूवाचकः शब्द इति । कृष् विलेखने । कृष्यते विलिख्यत इति कृष् भूमिः । सत् । णश्च निर्वृतिवाचक इति । निर्वृतिरानन्दः सुखम् । शुद्धं ब्रह्मेति यावत् – एवमियं श्रुतिर्व्याख्याता । ततः 'सच्चिदानन्दाये'ति श्रुतिर्व्याख्याता । अतः 'कृषिर्भूवाचकः शब्द' इति गोपालतापिन्यारम्भेऽस्तीति बोध्यम् ।

ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान कराने के लिए ब्रह्म के विभिन्न रूपों को बताते हुए ब्रह्म का मूलरूप कृष्ण है- यह बात आचार्यचरण **परं ब्रह्म तु कृष्णः** इत्यादि पदों द्वारा कह रहे हैं।

आपश्री ने कृष्ण को परब्रह्म इसलिए कहा क्योंकि *"कृषिर्भूवाचकः शब्दः(गो0ता0उप0)"* इस वचन द्वारा कृष्ण को ही परब्रह्म कहा गया है। यह भी श्रुतिवाक्य ही है क्योंकि श्रीनारायण ने गोपालपूर्वतापिनी उपनिषद् की दीपिका में [अब हम 'कृषिर्भूवाचकः शब्द' इत्यादि वचनों द्वारा बताए कृष्ण शब्द का निर्णय कह रहे हैं- यों लिखा है] इसके आगे उन्होंने 'कृष्ण' शब्द की व्याख्या में लिखा= **कृष्** धातु विलेखन अर्थ में प्रयुक्त होती है('विलेखन' का अर्थ होता है-कर्षण, खींचना। अर्थात् जिसको खींचा जाता है या जोता जाता है, वहाँ कृष् धातु प्रयुक्त की जाती है)अतः तदनुसार जिसका विलेखन किया जाय, खींचा या जोता जाय, उसे 'कृष्' कहते हैं, यानि कि भूमि, यानि कि सत(सत्ता)। **ण** शब्द निर्वृति का वाचक है और निर्वृति का अर्थ होता है- आनन्द या सुख; अर्थात् शुद्धब्रह्म। 'कृष्' का अर्थ है- जो सत् है अर्थात् जिसकी सत्ता सदैव रहती है; और 'ण' का अर्थ है- जिसमें आनन्द है; ऐसे को 'कृष्ण' कहा जाता है। इसके पश्चात् श्रीनारायण ने 'सच्चिदानन्दाय' इस श्रुति की व्याख्या

ा है। अतः गोपालतापिनी उपनिषद् में *'कृषिर्भूवाचकः शब्दः'* यह श्रुति आरम्भ में ही है- यह समझना चाहिए।

रं ब्रह्मैतद्यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवती'त्यादिश्रुतेश्च । 'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि ोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः', 'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जये'ति भगवद्वाक्याच्च । तुशब्देनाक्षरस्य ह्मत्वेपि परत्वाभावात् परस्य पुरुषोत्तमस्यैव सेव्यत्वम् । अनेन पूर्वोदितः कृष्णसेवाविधिः समर्थितः ।

ार, *"परं ब्रह्मैतद्यो ध्यायति(गोपाल0उप-1)"* इत्यादि श्रुतियों के द्वारा एवं *"यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि(भ0गी-5/18)', "मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति(भ0गी-7/7)"* इत्यादि भगवद्वाक्यानुसार भी श्रीकृष्ण ही परब्रह्म होने सिद्ध होते । यद्यपि **परं ब्रह तु कृष्णः** पदों में प्रयुक्त **'तु'** शब्द से ध्वनित अर्थ यह निकलता है कि अक्षर भी ब्रह्म है, परन्तु अक्षरब्रह्म रुषोत्तम से श्रेष्ठ नहीं है अतः परब्रह्मपुरुषोत्तम की ही सेवा करनी सिद्ध होती है। इन सभी दृष्टान्तों द्वारा हमने पूर्व में ाचार्यचरणों द्वारा कही कृष्णसेवाविधि का समर्थन कर दिया है।

च्चिदानन्दकमिति । बृहत् अक्षरं **ब्रह्म** सच्चिदानन्दकम् । अल्पार्थे कन् । 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण ानन्द' इति तैत्तिरीये गणितानन्दत्वात् । तदक्षरं द्विरूपमित्याहुः **द्विरूपं तद्धी**त्यादि । एकं सर्वं निखिलप्रपञ्चात्मकं ार्यरूपम् । अपरं तस्मात्पूर्वस्माद्विलक्षणं प्रापञ्चिकधर्मरहितं 'अस्थूलमनण्वि'त्यादिश्रुतिविषयः, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ह्म', 'यो वेद निहितं गुहायाम्','सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्','तदाहुरक्षरं ब्रह्म','तद्धाम परमं मे'त्यादिश्रुतिस्मृतिविषयश्च । इदं तु ब्रह्मणो भौतिकं प्रपञ्चात्मकं रूपं नाशोत्पत्तिमत्त्वेन भासमानत्वान्मायिकं गुणमित्याद्यज्ञानविलासैर्विकल्प्यते । वस्तुतस्तु 'स हैतावानास','स आत्मान ँ स्वयमकुरुत','ऐतदात्म्यमिद ँ र्वम्', 'यदयमात्मा तत्सत्यम्','सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपसीत','कथमसतः ज्जायेत','सत्त्वाच्चावरस्य', 'असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्','पटवच्च','नाभाव ालब्धेः','आत्मकृतेः परिणामादि'त्यादिश्रुतिन्यायशतैरक्षरात्मकमुररीकार्यम् । तत्र नाशोत्पत्तिप्रतीतिर्भ्रान्त्या । ाविर्भावतिरोभाववत्त्वेन नित्यत्वात् ।**

च्चिदानन्दकं बृहत् में **बृहत्** का तात्पर्य अक्षरब्रह्म है और वह सच्चिदानन्दात्मक है। परब्रह्म की तुलना में अक्षरब्रह्म को ल्प बताने के लिए आचार्यचरणों ने **सच्चिदान्दकं** में 'कन् प्रत्यय' का प्रयोग किया है। जैसा कि *"ते ये शतं जापतेरानन्दाः(तै0उप-2/8)"* इस तैत्तिरीय उपनिषद् की श्रुति में अक्षरब्रह्म के आनन्द की गणना हो सकती है, इस अर्थ में क्षरब्रह्म को परब्रह्म की तुलना में अल्प बताया गया है। उसी अक्षरब्रह्म के दो स्वरूपों को आपश्री **द्विरूपं तद्धि** इत्यादि शब्दों रा बता रहे हैं। इन दो स्वरूपों में से एक तो **सर्वं** अर्थात् निखिलप्रपञ्चात्मकस्वरूप है, जो कि अक्षरब्रह्म का कार्य है यानि क्षरब्रह्म इच्छा करके प्रपञ्च को बनाता है। दूसरा स्वरूप इससे विलक्षण है, जो प्रापञ्चिकधर्मों से रहित एवं *अस्थूलमनणु(बृहदा-3/8/8)"* इत्यादि श्रुतियों में वर्णित हुआ है और *"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म(तै0उप-2/1/2)","यो वेद निहितं हायाम्(मुण्डक-2/1/10)","सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्(श्री0भा-10/28/15)", "तदाहुरक्षरं ब्रह्म(श्री0भा-'11/41)","तद्धाम परमं मम(भ0गी-8/21"* इत्यादि श्रुतिस्मृतियों में भी वर्णित हुआ है। यह जगत अक्षरब्रह्म का भौतिक ञ्चात्मक रूप है, जो कि नाश-उत्पत्ति वाला भासित होता है इसलिए अज्ञानवश लोग 'यह मायिक है', 'सगुण है' सप्रकारक कल्पना कर लेते हैं। वास्तव में तो इस जगत को *"स हैतावानास(बृहदा-1/4/3)","स आत्मानं(तैत्ति0उप-'7)","एतदात्म्यमिदं","यदयमात्मा तत्सत्यम्","सर्वं खल्विदं(छान्दो-3/14/1)","कथमसतः सज्जायेत(छान्दो-6/12/2)", त्त्वाच्चावरस्य(ब्र0सू-2/1/16)","असद्व्यपदेशान्नेति(ब्र0सू-2/1/16)","पटवच्च(ब्र0सू2/1/19)","नाभाव उपलब्धेः(ब्र0सू-'2/28)","आत्मकृते परिणामात्(ब्र0सू-1/4/26)"* इत्यादि सैंकड़ों श्रुतियों के अनुसार अक्षरात्मक समझना चाहिए और ये मझना चाहिए कि जगत का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। जगत के लिए नाशवान और उत्पत्ति की प्रतीति तो भ्रान्ति कारण होती है। क्योंकि हमारे मतानुसार तो जगत आविर्भाव-तिरोभावशाली है। (हमारे मत में जगत अक्षरब्रह्म का स्वरूप अतः सत्य भी है। ब्रह्म की सत्ता त्रिकालाबाधित है अर्थात् सदैव रहती है, इसलिए अक्षरात्मक जगत को यानि अक्षरब्रह्म से त्पन्न होने वाले जगत को नाशवान और पुनः उत्पन्न होने वाला नहीं कहा जा सकता और इसीलिए जगत मिथ्या नहीं है पितु नित्य है)।

नु 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमि'ति श्रुत्या विकारभूतस्य प्रपञ्चस्य कुतो न मिथ्यात्वमिति चेत् ।

न । 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य' इति सूत्रेण वाचारम्भणमित्यादिशब्दानां प्रपञ्चे ब्रह्मानन्यत्वप्रतिपादनार्थताया निर्णीतत्वात् । अपि च । घटे मृद्विकारत्वमिव प्रपञ्चे ब्रह्मविकारत्वं नास्ति । अविकृतपरिणामवादस्वीकारात् । यत्र हि कार्यस्य पुनः पूर्वभावापत्तिः सोऽविकृतपरिणामः । यथा कनककुण्डलस्य पूर्वभावापत्तिः कर्तुश्चिकीर्षया, तथा प्रपञ्चस्यापि चिदानन्दप्राकट्ये पूर्वभावापत्तिः । अतो विकारत्वाभावाद्वाचारम्भणश्रुतेर्न प्रपञ्चे प्रवृत्तिः ।

किन्तु किसी को शंका यह होती है कि, *"वाचारम्भणं विकारः(छान्दो-6/1/4)"* इस श्रुति के अनुसार विकारवान प्रपञ्च को मिथ्या क्यों न समझ लिया जाय ! नहीं............। प्रपञ्च मिथ्या नहीं है। क्योंकि *"तदन्यत्वम्(ब्र0सू-2/1/14)"* इस सूत्र में यह बात निर्णीत कर दी गयी है कि, 'वाचारम्भणम्' इत्यादि शब्द प्रपञ्च को मिथ्या बताने के लिए नहीं अपितु प्रपञ्च को ब्रह्म से अभिन्न(एक)बताने के लिए कहे गए हैं। अर्थात् इस श्रुति का तात्पर्य यह है कि, चाहे किसी पदार्थों के नाम रूप इत्यादि अलग अलग क्यों न हो तथापि यह दृश्यमान जगत एवं जागतिक पदार्थ सभी कुछ ब्रह्म है। साथ ही साथ, उक्त श्रुति में जिस प्रकार से घड़ा मिट्टी का विकार है, उस प्रकार से यह प्रपञ्च ब्रह्म का विकार नहीं है क्योंकि हमारे यहाँ 'अविकृतपरिणामवाद' स्वीकार किया गया है। जहाँ कार्य पुनः अपने पूर्वरूप जैसा बन जाए, उसे 'अविकृतपरिणामवाद' कहा जाता है। जिस प्रकार स्वर्ण से बने कुण्डल को यदि स्वर्णकार चाहे तो पुनः स्वर्ण बना सकता है; ठीक उसी प्रकार इस प्रपञ्च में भी जब 'चित्' और 'आनन्द' धर्म प्रकट हो जाते हैं, तब प्रपञ्च भी पुनः ब्रह्मरूप बन जाता है। अतः प्रपञ्च ब्रह्म का विकार नहीं है इसलिए 'वाचारम्भण' वाली श्रुति का तात्पर्य प्रपञ्च को मिथ्या बताना नहीं है।

किञ्च । मायिकं जगदिति वदन् वादी प्रष्टव्यः कथमसत्प्रतीयत इति । शुक्तौ रजतमिवेति चेत् । न । चक्षुषोपलभ्यमानायां हि शुक्तिकायां रजतभ्रान्तिः । ब्रह्मणस्तु 'पराञ्चि खानी'ति श्रुत्या सकलेन्द्रियागोचरत्वेन न तदधिष्ठानकभ्रमसम्भावनापि । भ्रमोत्पत्तेः सादृश्यसापेक्षत्वेन ब्रह्मप्रपञ्चयोः सादृश्याभावाद् भ्रमाभावः । न हि रज्जौ भुजङ्गभ्रम इव रजतभ्रमोऽपि सूपपादः । सादृश्याभावात् ।

अब, जो लोग *"यह जगत मायिक है और असत् है"* ऐसा कहते हैं, उनसे पूछना चाहिए कि यदि जगत असत् है तो फिर प्रतीत कैसे हो रहा है, दिखाई कैसे दे रहा है ? तो वह प्रत्युत्तर में कहेगा- जैसे सीप में चाँदी होती नहीं परन्तु फिर भी प्रतीत होती है, उस तरह से यह जगत प्रतीत होता है। किन्तु, उनका यह समाधान ठीक नहीं है, क्योंकि सीप जिसमें कि चाँदी होने का भ्रम हो रहा होता है, वह सीप तो आँखों से दिखाई देती है इसलिए सीप में चाँदी होने की भ्रान्ति होती है, जबकि पूर्वपक्षी का मत तो यह है कि, *"पराञ्चि खानि(कठो-2/1/1)"* इस श्रुति के आधार पर ब्रह्म तो किसी भी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, तो फिर बताईए कि अव्वल जो दिखाई ही नहीं दे रहा है, उसमें किसी अन्य वस्तु की भ्रान्ति होने का अवकाश ही कहाँ है ! इसलिए पूर्वपक्षी के अनुसार रूपरहितब्रह्म में प्रपञ्च का भ्रम होना कैसे संभव है ? दूसरी बात, भ्रम भी उसी का हो सकता है, जिसमें सदृशता हो; इसलिए चलो रस्सी का आकार सर्प के सदृश होने के कारण रस्सी में सर्प का भ्रम तो हो सकता है, किन्तु रस्सी में चाँदी का भ्रम नहीं हो सकता; ठीक इसी प्रकार पूर्वपक्षी के मतानुसार तो ब्रह्म(रूपरहित है)और प्रपञ्च(अनेक रूपों वाला है)में जब कोई सदृशता/समानता ही नहीं है, तो फिर ब्रह्म में प्रपञ्च का भ्रम होना कैसे संभव हो सकता है !

ननु नीरूपत्वेन चक्षुरगोचरेऽपि व्योम्नि सादृश्यानपेक्षो नीलमिदं गगनमिति भ्रमो भवत्येव, अज्ञानकलुषितबुद्धीनामिति चेत्, न । श्रृणु । तत्र हि नभसो मनोगोचरत्वेन व्यवहारविषयत्वाद् भ्रमोद्भूतिः सम्पद्यते । ब्रह्मणि तु निर्विशेषे भ्रमो नास्त्येव । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे'ति श्रुतेर्मनोवागगोचरत्वेन सर्वथा ज्ञानाविषये भ्रमस्योपपादयितुमशक्यत्वात् । भवन्मते निरुपाधिके ब्रह्मणि सर्वथा ज्ञानाविषयत्वमभिमतम् । विषयत्वेन जडत्वेन व्याप्तेः स्वीकारात् ।

[किन्तु इसमें पूर्वपक्षी यह तर्क देता है कि, यद्यपि आकाश का कोई रूप नहीं है इसलिए उसे चक्षुओं से देखा नहीं जा सकता, तथापि, जब हम आकाश की ओर देखते हैं, तो अज्ञानबुद्धि के कारण बिना किसी की सदृशता/समानता के भ्रमवश वह हमें नीला दिखाई देता ही है; ठीक इसी प्रकार भले ही ब्रह्म इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता तथापि अज्ञान से कलुषित बुद्धिवालों को भ्रमवशात् ब्रह्म इस जगत के रूप में दिखाई देता है।] यदि पूर्वपक्षी यह तर्क देता हो, तो इसका समाधान सुनिए। यह बात ठीक है कि आकाश आँखों से दिखाई नहीं देता, फिर भी मन से तो हम यह बात जानते ही हैं कि

आकाश है, इसलिए आकाश इन्द्रियों का विषय तो बना ही, जबकि पूर्वपक्षी के मतानुसार ब्रह्म तो किसी भी इन्द्रियों का विषय नहीं बन सकता ! इस कारण रूपरहित होते हुए भी आकाश में भ्रान्ति उत्पन्न हुई; परन्तु पूर्वपक्षी के अनुसार ब्रह्म तो निर्विशेष है, वह व्यवहार का विषय बन ही नहीं सकता, अतः ऐसे निर्विशेषब्रह्म में तो भ्रम होने का अवकाश ही नहीं है। और, एक बात यह भी है कि,*"यतो वाचो(तैती03प-2/9)"* इस श्रुति के अनुसार तो ब्रह्म को न वाणी द्वारा कहा जा सकता है और न मन द्वारा ही जाना जा सकता है, अतः जब इन्द्रियों की वहाँ तक पहुँच ही नहीं है, तो भ्रम होगा ही कैसे ! **क्योंकि भ्रम तो तब होगा जब सर्वप्रथम इन्द्रियाँ पदार्थ तक पहुँच पाएँ, जब ब्रह्म तक इन्द्रियों की पहुँच ही नहीं है तो भ्रम भी कैसे** हो सकेगा- यह अर्थ है। क्योंकि पूर्वपक्षी के मतानुसार ब्रह्मस्वरूप को इन्द्रियों से तो कोई जान ही नहीं सकता, और जब इन्द्रियों से जान ही नहीं सकता तो भ्रम होने को भी अवकाश कहाँ रह जाता है- यह अर्थ है। क्योंकि जो जड़वस्तु होगी, वही इन्द्रियों से दिखाई दे सकती है, चेतन नहीं- उदाहरण के लिए शरीर जड़ है परन्तु शरीर को भीतर से चलायमान रखने वाली आत्मशक्ति चेतन है जो दिखाई नहीं देती।

नन्वारोपे ह्यधिष्ठानसामान्यज्ञानं कारणं, न तु विशेषतो ज्ञानम् । अहंवित्तौ भासमानस्यात्मनो भवत्येव सामान्यज्ञानमिति चेत्, न । उपाध्यवच्छिन्नस्यैवाहम्प्रत्यये भासमानत्वात् । एवं सत्यात्मनो निरुपाधिकस्य ज्ञानाभावान्न तत्र जगदारोपः सम्भवतीति विद्वद्भिर्ज्ञेयम् ।

सिद्धान्ती ने ऊपर यह सिद्ध किया कि, भ्रम तब ही हो सकता है जब पदार्थ इन्द्रियों का विषय बने अर्थात् इन्द्रियों को पदार्थ का ज्ञान हो; यदि इन्द्रियाँ ही पदार्थ तक नहीं पहुँच पायीं तो भ्रम होने का भी अवकाश नहीं रह जाता। सिद्धान्ती ने यह भी सिद्ध किया कि यदि पूर्वपक्षी के मतानुसार ब्रह्म निर्विशेष है, रूपरहित है और ब्रह्मस्वरूप जानने में जब इन्द्रियों की पहुँच ही नहीं है, तो फिर पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकता कि ब्रह्म में इस जगत का भ्रम हो रहा है या परिदृश्यमान जगत वस्तुतः मात्र एक भ्रम है; क्योंकि यदि ब्रह्म इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता तो उसमें भ्रम होना भी कैसे संभव है। इस पर आगे पूर्वपक्षी का उत्तर यह है कि, भ्रम होने के लिए पदार्थ का विशेषज्ञान होना आवश्यक नहीं है, अपितु यदि सामान्यज्ञान हो, तब भी भ्रम हो सकता है। इसके द्वारा पूर्वपक्षी को यह सिद्ध करना है कि, भले ही इन्द्रियों द्वारा ब्रह्म का विशेषज्ञान न होता हो अर्थात् इन्द्रियों की वहाँ तक पहुँच न हो, तथापि पूर्वपक्षी के मतानुसार यह जीवात्मा भी वास्तव में ब्रह्म ही है और प्रत्येक को 'यह मैं हूँ' इस प्रकारक ज्ञान तो होता ही है, इस आधार पर पूर्वपक्षी का कहना यह है कि प्रत्येक 'यह मैं हूँ' इस प्रकारक ज्ञान होता है, अतः इतने सामान्यज्ञान से भी भ्रम होने का अवकाश है। [[अब पूर्वपक्षी यह कहता है कि, अधिष्ठान का सामान्यज्ञान होना ही भ्रम उत्पन्न होने में कारण है, उसका विशेषज्ञान होना आवश्यक नहीं(अर्थात् पूर्वपक्षी का कहना यह है कि, किसी वस्तु में किसी अन्य का भ्रम उस वस्तु का सामान्यज्ञान हो तब भी हो सकता है, उसके लिए ये आवश्यक नहीं है कि वस्तु का विशेषज्ञान हो। सामान्यज्ञान का अर्थ है- दो भिन्न वस्तुओं को समान मान लेने का ज्ञान। इसे एक उदाहरण से समझें। यदि अंधकार में कहीं कोई रस्सी पड़ी हो और प्रकाश के अभाव में यदि उस रस्सी को भ्रमवश सर्प समझ लिया जाय तो यह रस्सी का सामान्यज्ञान हुआ कहा जायेगा। किन्तु जब रस्सी को प्रकाश में देखकर यह पता चलेगा कि यह सर्प नहीं अपितु रस्सी है, तो इसे विशेषज्ञान होना कहा जायेगा। चूँकि सिद्धान्ती ने यह तर्क दिया था कि पूर्वपक्ष के अनुसार ब्रह्म को देखा-सुना नहीं जा सकता अतः उसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कहना यह है कि जीव ही ब्रह्म है और प्रत्येक को कम से कम 'मैं हूँ' इतनी समझ तो होती ही है, अर्थात् ऐसा सामान्यज्ञान तो हो ही रहा होता है इसलिए इस दृष्टि से ब्रह्म में जगत का भ्रम होना संभव बनता है। इस पर सिद्धान्ती आगे यह उत्तर देंगे कि प्रत्येक को 'यह मैं हूँ' इसका सामान्यज्ञान भी नहीं हो रहा होता है क्योंकि ऐसा ज्ञान तो उसी को होगा जो माया की उपाधि से ग्रस्त होगा, इसलिए इसे सामान्यज्ञान होना नहीं कहा जा सकता। और 'यह मैं हूँ' इसप्रकारक आत्मा(ब्रह्म) का सामान्यज्ञान तो सभी को हो ही रहा होता है, इसलिए यदि सामान्यज्ञान होता है, तो ब्रह्म में जगत होने का भ्रम भी हो सकता है]] नहीं.........पूर्वपक्षी का यह कथन युक्त नहीं है क्योंकि जिस किसी को 'मैं हूँ' इसप्रकारक ज्ञान हो रहा है, वह माया की उपाधि से ग्रस्त होता है तभी तो उसे 'यह मैं हूँ' ऐसा ज्ञान होता है, (कहने का तात्पर्य यह कि माया की उपाधि से ग्रस्त होने के कारण ही तो उसे 'मैं हूँ' यों ज्ञान हो रहा होता है, शुद्धब्रह्म का ज्ञान नहीं होता।) इस परिस्थिति में जब उसे वास्तविक निरुपाधिक आत्मा(ब्रह्म)का ज्ञान नहीं होता अर्थात् शुद्धब्रह्म का ज्ञान ही नहीं होता तो फिर ब्रह्म में जगत का

आरोपण/भ्रम होने की बात भी संभव नहीं बन सकेगी- यह बात विद्वानों को जान लेनी चाहिए।

केचित्तु निषेधमुखेन ज्ञानं सामान्यज्ञानमित्याहुः । तन्न । शास्त्रोत्पाद्यस्य तस्यासर्वजनीनत्वे मूर्खाणां जगत्[१]प्रत्ययाभावप्रसङ्गात् । सर्वव्यावृत्तताज्ञानस्य त्वधिष्ठानविशेषज्ञानत्वेन प्रत्युत भ्रमनिवर्तकत्वाच्च ।

अब, कोई पूर्वपक्षी निषेधपद्धति द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञान को सामान्यज्ञान कहते हैं। किसी सिद्धान्त को समझाने के लिए जब विधानपद्धति से न समझा कर प्रतिषेधपद्धति द्वारा समझाया जाय अथवा यों कहें कि नकारात्मकपद्धति से समझाया जाय, तो इसे निषेधपद्धति द्वारा समझाया जाना कहा जाता है। उदाहरण के रूप में आम के फल को समझाने के लिए उसकी मिठास या गुठली के द्वारा न समझा कर यदि यों समझाया जाय कि, आम का फल संतरे की भाँति खट्टा नहीं होता, उसमें अंगूर की भाँति बीज नहीं होते या अनानास के फल की भाँति काँटे नहीं होते, तो इसे प्रतिषेधपद्धति या निषेधपद्धति द्वारा समझाना कहा जायेगा। यहाँ तात्पर्य यह है कि, उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप बताने के लिए निषेधपद्धति द्वारा भी चर्चा की गयी है। चूँकि ब्रह्म के समान तो न कोई था, न है और न हो सकता है, ब्रह्मस्वरूप अनिर्वचनीय है इसलिए उसे प्रतिपादन की शैली से नहीं समझाया जा सकता; अतः श्रुति समस्त जागतिक या प्रापञ्चिक वस्तुओं का निषेध करती चली गयी और समस्त वस्तुओं का निषेध करने के पश्चात् जो पदार्थज्ञान उत्पन्न हुआ वह ज्ञान ब्रह्म का सामान्यज्ञान है और इतना सामान्यज्ञान होने पर ब्रह्म में जगत का भ्रम उत्पन्न होना संभव बनता है- ऐसा पूर्वपक्षी का कथन है। किन्तु यह तर्क नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उक्तप्रकारक शास्त्रीयज्ञान सभी को तो होता नहीं, इसलिए तब तो उल्टे यह कहना पड़ेगा कि जो मूर्ख हैं, जिन्होंने शास्त्र नहीं पढ़े उन्हें तो जगत होने का ज्ञान होगा ही नहीं !! तात्पर्य यह कि तब तो उल्टी बात यह कहनी पड़ेगी कि इसप्रकारक निषेधपद्धति द्वारा शास्त्रीय सामान्यज्ञान प्राप्त करने वाले को तो जगत का भ्रम होने लगेगा और जो मूर्ख हैं, जिन्होंने शास्त्र नहीं पढ़े, उन्हें तो जगत भी दिखाई नहीं देगा और न ही भ्रम होगा ! जबकि होना तो यह चाहिए था कि शास्त्रों के ज्ञान द्वारा सबका निषेध करते करते अंत में जाकर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह तो एकमात्र ब्रह्मरूपी अधिष्ठानविशेष का ज्ञान कराने वाला होता है अर्थात् भ्रम का निवारण करने वाला सत्यज्ञान होता है, भ्रम कराने वाला नहीं, क्योंकि सभी का निषेध करते करते अंत में शुद्धब्रह्म दिखाई देना चाहिए, भ्रामक जगत नहीं।

न च कस्यचिद्गगनज्ञानाभाववतोऽपि बालादेर्गगने नीलिमभानान्नाधिष्ठानसामान्यज्ञानस्य भ्रमकारणत्वम् । तथा सति निर्विशेषस्याधिष्ठानस्य सामान्यज्ञानाभावेऽपि तदधिष्ठानको जगद्भ्रमः स्यादेवेति वाच्यम् । इदं किञ्चिन्नीलमित्याकारकस्य किञ्चित्त्वेन रूपेणाधिष्ठानज्ञानस्य तत्रापि सत्त्वात् । अन्यच्च । यद्यधिष्ठानज्ञानरहितस्यापि नीलिमप्रतीतिरङ्गीक्रियेत, तदा तत्प्रतीतेर्भ्रमत्वमेव न स्यात् । नीलिमज्ञानस्य सर्वदा सर्वेषां जायमानत्वादुपाधिजन्यत्वाभावेनोपाधिनाशनाश्यत्वाभावाच्च । मायिकस्य नीलरूपस्य विद्यमानस्यैव विषयत्वेन तदवगाहिज्ञानस्य भ्रमत्वायोगात् ।

[अब पूर्वपक्षी ऐसा भी कहता है कि, अधिष्ठान का सामान्यज्ञान हुए बिना भी भ्रम हो सकता है। उदाहरण के रूप में वह कहता है कि, किसी बालक आदि को भले ही यह गंभीरज्ञान न हो कि गगन क्या है और उसमें होने वाली भ्रान्ति क्या है, तथापि, गगन को देखने पर उसे कम से कम इतना ज्ञान तो अवश्य होता ही है कि, आकाश में कुछ नीला रंग जैसा दिखाई दे रहा है, इसलिए भले ही बालक को अधिष्ठान-गगन का सामान्यज्ञान नहीं होता तथापि उसे नीलिमा का भ्रम तो होता ही है; ठीक इसी प्रकार से भले ही किसी को निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप का सामान्यज्ञान न हो, तथापि उसमें जगत होने का भ्रम तो हो ही जायेगा !!] यदि पूर्वपक्षी यह तर्क देता हो तो, नहीं ...... ऐसा तर्क नहीं दिया जा सकता, क्योंकि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि बालक को सामान्यज्ञान सर्वथा है ही नहीं, क्योंकि बालक को कम से कम "*यह कुछ नीला जैसा दिखाई देता है*" इतना ज्ञान तो होता ही है, भले ही वह ज्ञान अल्पमात्रा में ही होता हो परन्तु सामान्यज्ञान तो होता ही है, इसलिए इससे यह बात सिद्ध होती है कि, सामान्यज्ञान के बिना भ्रम उत्पन्न नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि, जो वस्तु नीली नहीं है, फिर भी यदि वो नीली दिखाई देती हो तब तो उसे भ्रम कहा जा सकता है। किन्तु स्वयं नीली वस्तु ही यदि नीली

---

[१] जगत्प्रतीत्यभावेति

दिखाई देती हो, तो उसे भ्रम नहीं कहा जायेगा अपितु उसे तो सत्य कहा जायेगा। इसलिए यदि पूर्वपक्षी यह कहता हो कि, बालक को गगन क्या वस्तु है इसका ज्ञान नहीं होता और तथापि उसे नीलिमा दिखाई देती है, तब तो यह बात सिद्ध हुई कि बालक ने अधिष्ठान-गगन के बिना नीलिमा को देखा और तब बालक को नीलिमा दिखाई देना भ्रम नहीं कहा जा सकेगा अपितु वास्तविकता कही जायेगी क्योंकि भ्रम तो किसी न किसी अधिष्ठान में ही हो सकता है, अधिष्ठान के बिना स्वतन्त्रतया नहीं, यदि पूर्वपक्षी यह स्वीकार कर लेता है कि बालक को अधिष्ठान-गगन का ज्ञान नहीं होता तथापि उसे गगन में नीलिमा दिखाई देती है, तो फिर नीले रंग की प्रतीति होनी को भ्रम नहीं कहा जा सकेगा अपितु वह तो वास्तविकता होगी। क्योंकि आकाश में नीलिमा तो सर्वदा रहती है और सभी को दिखाई पड़ती है इसलिए नीलिमा यदि बिना किसी उपाधि के दिखाई पड़ रही है, यानि कि पूर्वपक्षी यदि ये कहता हो कि गगन जैसी कोई उपाधि है ही नहीं, तब तो फिर ध्यान से सोचिए कि उपाधिनाश होने की बात भी लागू नहीं पड़ पायेगी; जबकि पूर्वपक्षी का सिद्धान्त तो यह है कि, यह जगत इस प्रकार से माया की उपाधि के कारण दृश्यमान हो रहा है और जब माया की उपाधि नष्ट हो जायेगी और ब्रह्मज्ञान हो जायेगा तो सभी ब्रह्मरूप दिखाई देने लगेगा। अब पूर्वपक्षी यदि यह स्वीकार कर लेता है कि, उपाधि के बिना भी भ्रम हो सकता है, तो फिर स्वयं पूर्वपक्षी के अपने सिद्धान्त से विरोध आ जायेगा जिसमें उसने उपाधि नष्ट होकर ब्रह्मज्ञान होने की बात कही है। इसलिए जब उपाधि ही नहीं मानेंगे तो उपाधिनाश होने का भी अवकाश नहीं रह जायेगा और चूँकि गगन की मायिक नीलिमा तो सदा बनी रहती है अतः फिर नीलिमा दिखाई पड़नी भ्रम नहीं कहा जा सकेगा।

न च तस्यानिर्वचनीयत्वं, सदसद्भिन्नतयेति वाच्यम् । नीलिम्नः सर्वदैव विद्यमानत्वेन प्रतीतिविषयतया ज्ञानबाध्यत्वाभावेन गगनवत्स्थिरतयाऽनिर्वचनीयकल्पनायाः प्रवेशानवसरात् । अधिष्ठानभूतं गगनमनवगाह्यैव इदं नीलमिति प्रत्ययात् । गगनस्य नीरूपत्वान्नीलरूपारोपे भ्रमत्वस्य [१]सुवचनत्वात् । तथा गगनं नीलमिति प्रतीतावेव भ्रमत्वं न तु केवलं नीलमिदमिति प्रतीतौ । तत्र गगनावगाहाभावात् । तदभाववति तदारोपाभावात्, प्रतीतिविषयतया ह्यसत्त्वस्यापि भवन्मतेऽनङ्गीकारात् । अतः सत्त्वमेवोररीकार्यं स्यात् । तथा सति तदवगाहिज्ञानस्य प्रमात्वमेवापद्येत । अत एतद्दूषणपरिहृतयेऽधिष्ठानस्य वियतः केनचिद्रूपेण ज्ञानं बालादीनामप्यस्तीति मन्तव्यम् । तथाच यदा शास्त्रसमुत्पन्नबुद्ध्या नीरूपत्वेन वियतः केनचिद्रूपेण ज्ञानं बालादीनामप्यस्तीति मन्तव्यम् । तथा च यदा शास्त्रसमुत्पन्नबुद्ध्या नीरूपत्वेन वियतो ज्ञानं समभूत्, तदा रूपरहिते वियति नीलरूपस्यासम्भवं जानन् नीलिमानमसन्तमेव निश्चिनोति । एवं बाधविषयत्वेन सत्त्वाभावादविद्यमाननीलरूपावगाहिज्ञानस्य भ्रमत्वं सुवचमिति सन् पन्थाः ।

पूर्वपक्षी यह भी नहीं कह सकता कि "*मायिक नीलिमा अनिर्वचनीय है, न सत् है और न ही असत्*" (मायावादी माया के स्वरूप को न सत् मानते हैं और न ही असत् अपितु अनिर्वचनीय मानते हैं अर्थात् जिसका स्वरूप कहा न जा सके, ऐसा मानते हैं। मायावादियों के समक्ष कठिनाई यह है कि, यदि वे माया का स्वरूप असत् मान लेते हैं, तो माया के द्वारा होने वाली प्रतीति को कैसे झुठला सकेंगे और यदि वे माया को सत् मान लेते हैं, तो वे ये कैसे कह पायेंगे कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर माया की उपाधि नष्ट हो जाती है, क्योंकि जो सत् होता है उसकी सत्ता तो सदैव बनी रहती है, कभी नाश नहीं होता। इसलिए वे कहते हैं कि माया का स्वरूप न सत् है और न ही असत् अपितु अनिर्वचनीय है, यानि जिसका स्वरूप शब्दों में कहा न जा सके ऐसा है)पूर्वपक्षी गगन की नीलिमा को अनिर्वचनीय नहीं कह सकता क्योंकि नीलिमा तो आकाश में सर्वदा रहती है और प्रतीत होती रहती है और कोई भी ज्ञान उस नीलिमा को हटा नहीं सकता अतः जिस प्रकार गगन स्थिर है उसी प्रकार नीलिमा भी स्थिर बनी रहती है, इसलिए नीलिमा के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वो अनिर्वचनीय है। इसलिए जब तक गगन का ज्ञान नहीं होगा, तब तक उसमें प्रतीत होने वाली नीलिमा को भ्रम नहीं कहा जा सकेगा, अपितु गगन के परिप्रेक्ष्य में ही नीलिमा को भ्रम कहा जा सकेगा, स्वतन्त्रत्वेन केवल नीलिमा को नहीं। "*गगन का कोई आकार नहीं है और गगन में दिखाई देने वाली नीलिमा तो भ्रान्ति है*" यों कहने पर ही भ्रम कहने के लिए अवकाश है। क्योंकि जब आप ये कहेंगे कि "गगन नीला है" तब ही इसे भ्रम कहा जा सकेगा, परन्तु यदि आप केवल इतना ही कहें कि

---

१. सुवचत्वादिति स्यात् ।

ह नीला है" तो इसे भ्रम नहीं कहा जा सकेगा अपितु ये तो वास्तविकता हो जायेगी, क्योंकि आपने नीलिमा को गगन के थ में या अन्य किसी अधिष्ठान के साथ जोड़कर तो कहा ही नहीं ! जब अधिष्ठान ही नहीं है, तो उसमें भ्रम कहने का भी हाँ अवकाश रह जायेगा ! क्योंकि कोई भी वस्तु यदि अस्तित्व में न हो, तो उसमें किसी अन्य वस्तु का आरोप नहीं या जा सकता। क्योंकि शून्य में किसी वस्तु की प्रतीति होनी- ये बात तो तुम्हें(**पूर्वपक्षी को**)भी स्वीकार नहीं है ! सलिए भ्रम होने के लिए कम से किसी वस्तु होना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। और यदि कोई वस्तु विद्यमान है, तो सका ज्ञान होना तो प्रामाणिक ही कहा जायेगा, भ्रम नहीं। अतः इस दूषण का परिहार करने के लिए पूर्वपक्षी को यह वीकारना ही पड़ेगा कि, अधिष्ठान-गगन का यत्किञ्चित् ज्ञान तो बालक को भी होता ही है, तभी वह गगन में नीलिमा ो भ्रान्ति अनुभूत करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि, जब बालक में शास्त्राध्ययन द्वारा उत्पन्न हुई बुद्धि द्वारा गगन ो रूपरहित समझ जाने का ज्ञान आ जाता है, तब वह यह जान लेता है कि, इस रूपरहित गगन में नीलिमा होनी तो संभव बात है, इसलिए तब वह निश्चित करता है कि गगन में नीलिमा दिखाई देनी असत् है, भ्रान्ति है। इस प्रकार चूँकि ास्त्राध्ययन के द्वारा गगन में नीलिमा होने का भ्रम दूर कर लिया जाता है अतः नीलिमा को सत्य नहीं कहा जा सकता, सलिए जो नीलिमा वस्तुतः विद्यमान ही नहीं है ऐसी नीलिमा का ज्ञान होना तो भ्रम ही कहा जायेगा- यही सही मार्ग है।

तावता सिद्धमेतत् । अधिष्ठानसामान्यज्ञानं भ्रममात्रे कारणम् । तथा सति परमतेऽधिष्ठानत्वेनाभिमतस्य निर्विशेषब्रह्मणः नापि प्रकारेण ज्ञानविषयत्वाभावान्न तस्मिन्नधिष्ठाने भ्रमः सम्भवतीति दिक् । यद्यपि सत्तारूपेण सर्वत्र तदस्ति, थापि न ज्ञातुं शक्यम् । घटः सन् पटः सन्नित्यादौ तु न निर्विशेषरूपा सत्ता प्रतीयते, अपि त्वधिष्ठेयनिष्ठसत्ताया एव तीतिरिति भ्रमोऽधिष्ठानरूपब्रह्मणि निरूपयितुमशक्य एवेति प्रपञ्चमिथ्यात्वं विद्वद्भिर्नादर्तव्यम् ।

न समस्त विवेचनों से यह सिद्ध हुआ कि, यदि भ्रम होता है तो जिसमें भ्रम होता है उस अधिष्ठान का सामान्यज्ञान होने र ही होता है, सामान्यज्ञान हुए बिना नहीं। अब परमतानुसार अधिष्ठानरूप निर्विशेषब्रह्म तो किसी भी प्रकार से ज्ञान का वेषय बन ही नहीं सकता, तो फिर उसमें भ्रम होना संभव ही नहीं है। यद्यपि ये बात अवश्य है कि सत्ता के रूप में ब्रह्म सर्वत्र वेद्यमान अवश्य है, परन्तु उसे देखना-जानना शक्य नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह कि प्रपञ्च में घड़ा, वस्त्र इत्यादि धिष्ठेयरूप से तो प्रतीत होते हैं परन्तु इनके अधिष्ठानरूप निर्विशेषब्रह्म की सत्ता प्रतीत नहीं होती इसलिए यदि ब्रह्म देखाई-सुनाई ही नहीं देता तो फिर उसमें जगत का भ्रम होना कैसे संभव हो सकता है। और जब जगत का भ्रम ही नहीं हो नकता तो फिर जगत को मिथ्या भी नहीं कहा जा सकेगा, अतः ब्रह्म में भ्रम की कल्पना करनी अशक्य ही है, इसलिए पञ्च को मिथ्या बताने वाले मत को विद्वानों को नहीं स्वीकारना चाहिए।

किञ्च । जगदभिपश्यतः परमेश्वरस्यापि भवन्मते भ्रान्तत्वापातः । भ्रमप्रतिपन्नस्य रजतादेर्भ्रान्तेनैवाध्यक्षीकरणात् । 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवदि'ति तत्त्वसूत्रे आदिशब्देनासत्त्वप्रतिपादकानां सर्वेषामेव निषेधात्प्रपञ्चसत्यत्वमेवाभिप्रेतं व्यासचरणानाम् । 'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरमि'ति जगदसत्यत्ववादिनां भगवता निन्दितत्वाच्च ।

और, पूर्वपक्षी तो परमेश्वर/ब्रह्म को साक्षी(**द्रष्टा, सभी को देखनेवाला**)मानते हैं, अतः प्रपञ्च को यदि पूर्वपक्षी भ्रान्ति मानते हैं, ो फिर इस भ्रान्ति को देखने वाले स्वयं परमेश्वर को भी भ्रान्त मानने की आपत्ति आ पड़ेगी, क्योंकि सीप में चाँदी की भ्रान्ति ो भ्रान्त व्यक्ति को ही होती है। व्यासजी ने भी *"वैधर्म्यांच्च न(ब्र0सू-2/2/29)"* इस ब्रह्मसूत्र में 'आदि' शब्द के द्वारा प्रपञ्च को असत्य प्रतिपदित करने वाले सभी मतों का निषेध कर दिया है अतः व्यासचरणों को भी प्रपञ्च सत्य है, यही अभिप्रेत है। भगवान ने भी *"असत्यमप्रतिष्ठितं ते(भ0गी-16/8)"* इस वाक्य द्वारा जगत को असत्य मानने वालों की निन्दा की है।

अन्यच्च । ब्रह्मणो यथार्थज्ञानं हि जगद्भ्रमं निवर्तयति, शुक्तिबोधो रजतभ्रममिव । तच्च मननादिजन्यत्वेन प्रपञ्चमध्यपातितया नाज्ञानरूपं प्रपञ्चं दूरीकर्तुमीष्टे । यावज्ज्ञानानां जगदन्तःपातित्वेनाज्ञानरूपत्वात् । प्रपञ्चोपशामकज्ञानस्योपशान्त्यै साधनान्तरस्य मृग्यत्वाच्च ।

(पूर्वपक्षी का मत यह है कि, ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। सर्वत्र ब्रह्म की ही सता है। परिदृश्यमान जगत मात्र एक भ्रम है। शुद्धज्ञान हो जाने के पश्चात् यह दृश्यमान जगत इत्यादि समस्त भ्रम दूर हो जाते हैं और सर्वत्र ब्रह्म की स्फूर्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भी ज्ञान नहीं बचता, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बचता, अन्य समस्त ज्ञान दूर हो जाते हैं। इसी को अद्वैतमत कहते हैं। सिद्धान्ती का उत्तर यह है कि यदि प्रपञ्च को मिथ्या माना जा रहा है तो अद्वैतमत खंडित हो

गया क्योंकि तब तो प्रपञ्च के अंतर्गत आनेवाली समस्त वस्तुएँ भी मिथ्या ही सिद्ध हुई, यानि ब्रह्मज्ञान के लिए किए जाने वाले मनन आदि साधन भी मिथ्या ही सिद्ध हुए और जब ये साधन ही मिथ्या हैं, तो मिथ्या साधनों द्वारा प्रपञ्च दूर होने का ज्ञान एवं सत्य ब्रह्म का ज्ञान भी कैसे प्राप्त हो सकता है ! मान लो, उस ज्ञान ने प्रपञ्च का भ्रम दूर कर भी दिया, तथापि प्रपञ्च का भ्रम दूर करने वाले ज्ञान को दूर करने का साधन भी तो प्रपञ्चान्तर्गत ही होगा ! पूर्वपक्षी के मतानुसार तो शुद्धज्ञान हो जाने के पश्चात् ब्रह्म के अतिरिक्त किसी की भी सत्ता नहीं रहती, ज्ञान की भी नहीं अतः अब प्रपञ्च का भ्रम दूर करने वाले ज्ञान को दूर करने के लिए पूर्वपक्षी पर प्रपञ्चान्तर्गत के अतिरिक्त साधन ढूँढने की आपत्ति आ पड़ेगी, जो संभव नहीं है। एक बात यह भी है कि, पूर्वपक्षी का कहना यह है कि, ब्रह्म का यथार्थज्ञान हो जाने पर जगत का भ्रम दूर हो जाता है, जिस प्रकार जब सीप का ज्ञान हो जाता है, तब उसमें चाँदी का भ्रम होना दूर हो जाता है। अब ब्रह्मज्ञान तो श्रवण-मनन-निदिध्यासन के द्वारा ही उत्पन्न होता है और ये सभी साधन इस प्रपञ्च के ही अंतर्गत आते हैं; अब यदि प्रपञ्च के ही अंतर्गत आते हैं, तो फिर वे साधन इस अज्ञानरूप प्रपञ्च को दूर नहीं कर पायेंगे क्योंकि यदि प्रपञ्च अज्ञानरूप है, मिथ्या है, तो फिर प्रपञ्च के अंतर्गत सभी वस्तुएँ भी मिथ्या ही मानी जायेंगी, प्रपञ्चान्तर्गत श्रवण-मनन भी मिथ्या माना जायेगा ! इसलिए अब ज्ञानियों के पास ब्रह्मप्राप्ति का क्या साधन बचा, यह समस्या उनके समक्ष उठ खड़ी होगी ! इसलिए अब उनके सामने कठिनाई यह आयेगी कि, प्रपञ्च को दूर करने वाले ज्ञान को मिटाने के लिए उन्हें प्रपञ्च के अन्तर्गत न आनेवाला दूसरा साधन ढूँढना पड़ेगा, जो कि असंभव बात है।

न च चरमवृत्तिरज्ञानकार्यमखिलं नाशयित्वा स्वयं नश्यति, कतकरेणुवदिति वाच्यम् । चरमवृत्तिजन्यस्याज्ञानध्वंसस्य नाशकान्तराभावेनावशिष्टस्य सत्तयाऽद्वैतसिद्धिव्यघातात् । चरमवृत्तिनाशक्षणस्य[१] विद्यमानतया द्वैतापत्तेश्च ।

[अब पूर्वपक्षी अपने अद्वैतमत(शुद्धज्ञान हो जाने के पश्चात् ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहता)को सिद्ध करने के लिए एक तर्क यह देता है कि, उपर कहे ज्ञान को नष्ट करने का साधन ढूढने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी क्योंकि जिस प्रकार कतक नामक फल(रीठा, इसका फल गन्दे जल को स्वच्छ कर देने वाला बताया जाता है)जल में जाने के पश्चात् जल की रेणु भी साफ कर देता है एवं स्वयं भी घुल जाता है, ठीक इसी प्रकार ऊपर कहा चरमवृत्तिजन्यज्ञान(सबसे अंत में होने वाला चरमज्ञान। ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान कराने के लिए समस्त पदार्थों का निषेध करते करते सबसे अंत में होने वाला ज्ञान, जो समस्त अज्ञान को दूर कर देता है, ऐसे ज्ञान को चरमवृत्तिज्ञान कहते हैं)प्रपञ्च का भ्रम भी दूर कर देगा एवं तत्पश्चात् स्वयं भी नष्ट हो जायेगा !!] नहीं......यह तर्क नहीं दिया जा सकता, क्योंकि चरमवृत्तिज्ञान द्वारा जिस अज्ञान का नाश हुआ, उसके पश्चात् चरमवृत्तिज्ञान स्वयं तो चलो नष्ट हो गया, परन्तु अज्ञाननाशवृत्ति बची रह गयी, उसे नष्ट करने वाला कोई न बचा और ब्रह्म के अतिरिक्त भी एक और सत्ता सिद्ध हो गयी, जिससे पूर्वपक्षी का अद्वैतमत सिद्ध न हो पाया क्योंकि पूर्वपक्षी के मतानुसार तो अंत में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की भी सत्ता नहीं रहती, ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं बचता। अद्वैतमतानुसार दो सत्ता नहीं मानी जा सकती इसलिए। साथ ही साथ, जिस क्षण चरमज्ञान नष्ट हुआ, वह क्षण तो तब भी विद्यमान है ही अतः दो पदार्थों की सत्ता सिद्ध होती होने के कारण अद्वैत के स्थान पर उल्टे द्वैतमत की सिद्धि हो गयी।

अपि च । चरमवृत्तेर्जगन्नाशं प्रति कारणत्वम् । तच्च कार्यनियतपूर्ववृत्तित्वम् । पूर्वत्वं तु कालकृतमिति कारणतानिर्वाहकः कालोऽवशिष्यत एव । तथाच चरमवृत्तिः स्वयं नश्यतीत्युक्तावपि कालस्य कारणतानिर्वाहकस्योर्वरितत्वान्नाद्वैतसिद्धिरिति ज्ञेयम् । न च ब्रह्मानतिरिक्तः कालः सुखेनावशिष्यताम्, अद्वैताबाधकत्वादिति वाच्यम् । चरमवृत्तिनाशरूपकार्यपरिच्छेद्यकालस्य सर्वापरिच्छेद्येन ब्रह्मणा सहाभेदस्य वक्तुमशक्यत्वादिति दिक् ।

एक बात यह भी है कि, चरमवृत्तिजन्यज्ञान जगतभ्रम को नष्ट करने में कारणभूत है। और, जो कारण होता है, उसकी सत्ता कार्य उत्पन्न होने के पहले निश्चितरूप से माननी ही पड़ती है(अर्थात् जब मिट्टि का घड़ा बनकर तैयार होता है, तब घड़ा बनने से पहले उसकी कारणरूप मिट्टि की सत्ता माननी ही पड़ेगी जिससे घड़ा बना)। अब कौन से कार्य के पहले क्या कारण था, इत्यादि बातों का ज्ञान तो काल ही कराता है अतः पदार्थों के पूर्व में उसकी कारणता को बताने वाला काल तो अवशिष्ट

---

१. लक्षणेति पाठः ।

रहेगा ही, काल की सत्ता तो रहेगी ही, इस दृष्टिकोण से भी अद्वैतमत की सिद्धि नहीं हो पायी। इसलिए भले ही चरमवृत्तिज्ञान स्वयं भी नष्ट क्यों न हो जाती हो, तथापि कारणता बताने वाले काल की सत्ता विद्यमान रहती होने के कारण अद्वैतमत की सिद्धि नहीं हो पायेगी। [इसमें पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकता कि, काल तो ब्रह्म से अतिरिक्त वस्तु नहीं है इसलिए यदि काल की सत्ता अवशिष्ट रहती हो तो भले रहे, इससे अद्वैतसिद्धान्त में कोई रुकावट नहीं आती।] नहीं,...... पूर्वपक्षी ऐसा तर्क नहीं दे सकता, क्योंकि काल और ब्रह्म की समानता नहीं हो सकती, ऐसा इसलिए क्योंकि चरमवृत्ति का नाश करने वाला काल सीमित है और ब्रह्म असीमित है अतः काल का ब्रह्म से अभेद नहीं कहा जा सकता अपितु दोनों में भेद है ही।

ा च वृत्तिरूपाणां तथात्वेऽपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति श्रुतेः स्वरूपभूतं ज्ञानं प्रपञ्चभ्रमापहारीति वाच्यम् । स्वरूपभूते ाने प्रपञ्चनाशकत्वाङ्गीकारे निर्विशेषवादबाधापत्तेः । ब्रह्मण्येव प्रपञ्चनाशकत्वपर्यवसानात् । तस्य सर्वदैव वेद्यमानत्वेन सदा सर्वेषां बन्धाभावप्रसङ्गाच्च । मननादिविधीनामानर्थक्यापत्तेश्च ।

अब पूर्वपक्षी यह कहता है कि, चलो चरमवृत्तिज्ञान से भले ही अद्वैतमत सिद्ध न हो पाया, तथापि *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म(तै0उप-2/1/2)'* इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान तो अवश्य ही प्रपञ्चविषयक भ्रम को दूर कर देगा !] नहीं, ूर्वपक्षी इस तर्क से भी अपने मत को सिद्ध नहीं कर सकता। क्योंकि यदि ये मान लिया जाय कि ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान ापञ्चभ्रम को दूर कर देता है, तो आपत्ति यह आयेगी कि स्वयं ब्रह्मस्वरूप में प्रपञ्चनाशक धर्म है और तब पूर्वपक्षी अपने मतानुसार यह नहीं कह पायेगा कि ब्रह्म निर्विशेष है, उसमें कोई भी धर्म नहीं हैं इत्यादि। **अर्थात् यदि यह मान लिया जाय के ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान होने के द्वारा प्रपञ्चभ्रम का नाश होता है, तो फिर ब्रह्म को निर्विशेष(विशेषणरहित)कहना संभव हीं बन पायेगा** क्योंकि तब तो ब्रह्म में प्रपञ्चनाशक धर्म होने की बात स्वीकार करनी पड़ेगी और तब पूर्वपक्षी के मतानुसार ब्रह्म को निर्विशेष नहीं कहा जा सकेगा और साथ ही साथ पूर्वपक्षी के सिद्धान्त से यह बात भी विरुद्ध जायेगी के, चूँकि ब्रह्म की सत्ता तो सदैव विद्यमान रहती है अतः सदा विद्यमान रहने वाले ब्रह्म में फिर प्रपञ्चनाशकधर्म भी सदा वेद्यमान रहेगा, और यदि ब्रह्म में प्रपञ्चनाशकधर्म सदा विद्यमान है, तो फिर यह कहना पड़ेगा कि इस प्रपञ्च में किसी ो माया का बन्धन होता/होगा ही नहीं, फिर तो सभी को मुक्त मान लेना पड़ेगा; और यदि बन्धन होता ही नहीं, तो फिर ्र्वपक्षी के सिद्धान्त में मनन-श्रवण आदि करने का जो विधान किया गया है, वह भी व्यर्थ सिद्ध हो जायेगा, फिर इनकी ्या आवश्यकता रह जायेगी !!

ननादिविधीनां तदभिव्यक्तौ साफल्यमिति चेत्, न । तस्मिन्स्वरूपभूते ज्ञानेऽभिव्यक्त्यात्मकधर्माङ्गीकारे र्मत्वावच्छेदकावच्छिन्नाभाववादहानिप्रसङ्गात् । असत्त्ववादे ब्रह्मणि व्यापकत्वमपि दुरुपपादम् । ाप्यानामज्ञानकल्पितत्वेनापार्थकतया तत्सापेक्षस्य व्यापकत्वस्यापि सुतरामवास्तवत्वात् ।

ोई पूर्वपक्षी इसमें यह तर्क देते हैं कि, मनन-श्रवण आदि करने व्यर्थ सिद्ध नहीं होते क्योंकि मनन-श्रवण की सफलता ही है कि इनके माध्यम से ब्रह्मस्वरूप अभिव्यक्त(प्रकट)हो सकता है।] नहीं...... यह तर्क भी नहीं दिया जा सकता, योंकि यदि ब्रह्म में अभिव्यात्मकधर्म होना स्वीकार कर लिया जाय, तो फिर पूर्वपक्षी का *'ब्रह्म में कोई भी धर्म नहीं हैं'*-ह सिद्धान्त खंडित हो जायेगा। पूर्वपक्षी के असत्त्ववाद(जगत असत् है)के अनुसार ब्रह्म में व्यापकधर्म कहना भी कठिन जायेगा क्योंकि यदि पूर्वपक्षी व्याप्य जगत को अज्ञानकल्पित/मिथ्या बता रहा है, तो फिर जगत के माध्यम से कही ाने वाली ब्रह्म की व्यापकता भी असत् मान लेनी पड़ेगी। अर्थात् पूर्वपक्षी का सिद्धान्त यह है कि, ब्रह्म में ही यह रिदृश्यमान जगत व्याप्त है, और पूर्वपक्षी के मतानुसार परिदृश्यमान जगत असत् है, मिथ्या है, भ्रम है। सिद्धान्ती का त्युत्तर यह है कि, यदि ब्रह्म में व्याप्त हुए जगत को असत् मान लिया जाय तो फिर स्वयं ब्रह्म को भी व्यापक नहीं माना । सकेगा, क्योंकि जब व्याप्य जगत ही झूठा है, तो जिसमें यह झूठा जगत व्याप्य हो रहा है उस ब्रह्म की भी व्यापकता हीं मानी जा सकेगी।

स्तु तथात्वमिति चेत्, न । 'बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च ब्रह्मे'ति श्रुतिव्याकोपात् । जगदसत्यत्वे तदन्तःपातिनीनां श्रुतीनामपि ात्वेन व्यवहारमात्रे प्रामाण्याङ्गीकारात्तदुक्तानां निर्विशेषत्वाज्ञेयत्वनिराकारत्वादीनां पारमार्थिकत्वेन न्मतेऽभिमतानामपि व्यवहृतिमात्रैकसत्यत्वापातात् । मनोव्यापारविजृम्भितत्वाच्च । त्वन्मते शुद्धब्रह्मणो व्यवहृतिमात्रैकसत्यत्वाभावादिति.

मनोप्राप्यत्वेन मनोगम्यस्य ब्रह्मातिरेकादित्यलमुक्तिभिः ।

पूर्वपक्षी ऐसा भी नहीं कह सकता कि, ब्रह्म में यदि व्यापकधर्म सिद्ध न होता हो तो भले न सिद्ध हो, क्योंकि यदि उसने ऐसा कहा तो उसकी बात *"बृहत्वात् बृंहणत्वाच्च यद्रूपं ब्रह्मसंज्ञितम्(विष्णुपुराण-1/12/55)"* इस श्रुति से विपरीत पड़ जायेगी। जगत को असत्य मान लेने पर जगत के अन्तर्गत आने वाली श्रुतियों को भी असत्य मान लेना पड़ेगा और उनकी प्रामाणिकता केवल व्यवहार में मान लेनी पड़ेगी और श्रुतियों में कहे ब्रह्म के निर्विशेष, अज्ञेय, निराकार इत्यादि धर्मों को जिन्हें कि पूर्वपक्षी ने पारमार्थिक माना है, उन धर्मों को भी पूर्वपक्षी को व्यवहृति/व्यवहारोपयोगी मान लेना पड़ेगा, अर्थात् तब उनको वास्तविक नहीं माना जा सकेगा। पूर्वपक्षी का सारा मत कपोलकल्पित सिद्ध हो जायेगा। क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में तो शुद्धब्रह्म को मन से तो कोई प्राप्त ही नहीं कर सकता, और यदि ब्रह्म को मन से प्राप्त होने वाला मान लिया जाय तो फिर यह बात पूर्वपक्षी के मत द्वारा बताए ब्रह्म के लक्षण से मेल नहीं खायेगी। मायावादी जगत की केवल व्यावहारिक सत्ता मानते है, पारमार्थिक सत्ता नहीं मानते। उनके मत में भ्रम के कारण दिखाई देने वाला यह परिदृश्यमान जगत भले ही मिथ्या हो, तथापि, जब तक भ्रम है तब तक तो वह प्रतीत होता ही है। इसलिए भ्रम दूर होने तक भ्रमवश दिखाई देने वाले जगत की व्यावहारिकसत्ता को वे स्वीकार करते हैं। उदाहरण के रूप में जब रस्सी को भ्रमवश सर्प समझ लिया जाता है, तो जब तक भ्रम दूर न हो जाय तब तक उससे भयभीत होना, दूर भागना इत्यादि तो होंगे ही। इसी को व्यावहारिक सत्ता कहा जाता है। व्यावहारिक सत्ता का तात्पर्य है- जो वास्तव में सच्चा नहीं है परन्तु सच्चा प्रतीत हो रहा है।

यदप्याहुः – सच्चेन्न बाध्येत । असच्चेन्न प्रतीयेत । अतः सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयं जगदिति । तत्र असच्चेन्न प्रतीयेतेति यदुक्तम् । तन्न । 'अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्यापि नात्मनः । तां चापि युष्मच्चरणसेवयाऽहं पराणुदे' इति मैत्रेयवाक्यात् 'छायाप्रत्याह्वयाभासा असन्तोप्यऽर्थकारिण' इति वाक्यान्तराच्च असतोऽपि प्रतीतिस्वीकारात् । अतोऽसत्पदार्थ एव भेदद्वयमस्ति । एकमसन्न प्रतीयते, शशश्रृङ्गादिवत् । एकमसत्प्रतीयते शुक्तिरजतादिवदिति व्यवस्था । न त्वनिर्वचनीयं कल्पनीयम् । मानाभावात् । ननु 'त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रम' इत्यादिवाक्येष्वसत्यता दृश्यत इति चेत्, न । भ्रमः अज्ञानमसदित्यादिशब्दानामहन्ताममतात्मकसंसारविषयत्वात् । एतच्चाकरे स्पष्टम् ।

[कुछ पूर्वपक्षी ऐसा भी कहते हैं कि- *"जगत यदि सत् होता, तो ब्रह्मज्ञान हो जाने पश्चात् नष्ट न हुआ होता। यदि असत्(**मिथ्या**)होता तो प्रतीत भी कैसे होता। अतः जगत सत्-असत् दोनों है और अनिर्वचनीय है"*।] इसमें पूर्वपक्षी का *'जगत असत्(**मिथ्या**)होता तो प्रतीत कैसे होता '* ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रीभागवत में *"अर्थाभावं विनिश्चित्य(श्री0भा-3/28/5)"* इस मैत्रेयवाक्य में एवं *"छायाप्रत्याह्वयाभासा(श्री0भा-11/28/5)"* इस दूसरे वाक्य में असत् की भी प्रतीति होनी स्वीकारी गयी है। अतः असत् पदार्थ में भी दो भेद होते हैं, यह समझना चाहिए। एक असत् वह होता है, जो प्रतीत नहीं होता, जैसे कि खरगोश के सींग। और एक असत् वह होता है, जो प्रतीत होता है, जैसे सीप में चाँदी। इसलिए, चूँकि असत् प्रतीत होता है, अतः जगत को अनिर्वचनीय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस बात का कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता। [इस बात पर पूर्वपक्षी पुनः यह तर्क देता है कि, *"त्वय्यद्वितीये(श्री0भा-10/59/30)"* इस श्रीभागवतवाक्य में ही कहा गया है कि जगत एक भ्रम है !] नहीं...... पूर्वपक्षी का यह तर्क भी युक्त नहीं है क्योंकि श्रीभागवत आदि में जहाँ जहाँ जगत के लिए भ्रम-अज्ञान-असत् इत्यादि शब्द कहे गए हैं, उनका तात्पर्य प्रपञ्च/जगत नहीं है अपितु अहंताममतात्मक संसार है और यह बात प्राचीनग्रन्थों में स्पष्ट भी कर दी गयी है।

किञ्च । अनादिरयं भ्रम इति प्रवादोऽपि चिन्त्यः । भ्रमत्वस्य ज्ञानत्वव्याप्यत्वात् यावज्ज्ञानानां जन्यत्वनियमात् ।

साथ ही साथ, कुछ ऐसा कहते हैं कि 'भ्रम अनादि है(जिसका जन्म होना न बताया जा सके ऐसा है)'- यह प्रवाद भी विचार करने योग्य है। उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि भ्रम तो उसी वस्तु का होगा जिस वस्तु का ज्ञान(जो बुद्धि की समझ में आता हो, वह) होगा(अर्थात् जिस वस्तु को हम पहले से नहीं जानते, उसके विषय में भ्रम नहीं हो सकता। सर्प क्या होता है, यह हम जानते हैं तभी रस्सी को सर्प समझ जाने का भ्रम हो सकता है, अन्यथा नहीं)। और जहाँ तक ज्ञान होने की बात है, तो जितना भी ज्ञान है, वह सभी ज्ञान उत्पन्न होने वाला होता है, इसलिए जब स्वयं ज्ञान ही उत्पन्न होने वाला होता है, तो फिर उसके कारण होने वाला भ्रम कैसे अनादि हो सकता है, भ्रम को भी उत्पन्न होने वाला ही मानना पड़ेगा ! इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि भ्रम अनादि है।

च 'बन्धोऽस्याऽविद्ययाऽनादिरि'ति वाक्यादनादित्वम् । अविद्याया: [1]कारणत्वव्याघातापत्तेः । तथाचेह ादित्वनिषेधो घटपटादिसाधारणापेक्षकः । देवेष्वमरपदेन मरणनिषेधवत् । अतः सर्वथा प्रपञ्चभ्रमे नादित्वकथनमयुक्तमेव ।

ूर्वपक्षी *'अविद्या के कारण यह बन्धन अनादि है(श्री0भा-11/11/4)"* इस वाक्य का आधार लेकर बन्धन को भी अनादि हीं कह सकता, क्योंकि इस उसके ऐसा कहने से तो उक्त भागवतवाक्य से विरोध आयेगा और फिर इस वाक्य में कहे नुसार बन्धन/भ्रम उत्पन्न होने में अविद्या की कारणता नहीं मानी जा सकेगी, जबकि उक्त भागवतवाक्य में बन्धन/भ्रम ोने में अविद्या को कारण माना गया है। और जहाँ तक इस जगत में भ्रम को या बन्धन को आदिसहित निषेध करके जन्मा/अनादि बताए जाने की बात है, तो यह समझना चाहिए कि भ्रम को अजन्मा/अनादि जागतिक साधारण घट-पट त्यादि पदार्थों की तुलना में बताया गया है, तात्पर्य यह कि जागतिक घट-पट पदार्थों की तुलना में भ्रम बहुत प्राचीन है र्थात् जिस प्रकार साधारणतया घट-पट की अवस्था सीमित समय तक की होती है, उस प्रकार भ्रम की नहीं है- इस अर्थ में भागवत ने भ्रम को अजन्मा/अनादि कहा है। इनकी तुलना में भ्रम को या बन्धन को अजन्मा/अनादि कहने का तात्पर्य ह है कि, जैसे देवताओं को अमर कह कर उनके मरण का निषेध बताया जाता है, उस प्रकार से परन्तु उनके मरण का षेध प्राणियों की तुलना में बताया जाता है। अर्थात् देवताओं का काल प्राणियों की तुलना में अरबों-खरबों वर्ष अधिक है, स अर्थ में बताया जाता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि, देवताओं का काल भी ब्रह्मा के दिन और रात के पश्चात् कभी न भी तो समाप्त होता ही है। चूँकि प्राणियों की तुलना में देवताओं का काल अरबों-खरबों वर्ष अधिक होता है अतः इस अर्थ में देवताओं को अमर कह दिया जाता है। अतः प्रपञ्च में होने वाले भ्रम को अनादि कहना सर्वथा अयुक्त है।

अन्यच्च । ज्ञानबाध्यत्वं मिथ्यात्वमित्याहुः । तन्न । चरमवृत्तिरूपे ज्ञाने ज्ञानबाध्यत्वाभावादव्याप्तेः । चरमवृत्तेः तकरेणुदृष्टान्तेन स्वत एव नाशाङ्गीकारात् ।

याप्ति= किसी पदार्थ को समझाने के लिए जब कोई लक्षण या उदाहरण दिया जाय और जब वह लक्षण पूर्णरूप से घट जाए अर्थात् उस लक्षण में कोई न्यूनता न रहे, तो उसे 'व्याप्ति' कहा जाता है।

अव्याप्ति= यदि लक्षण में कोई न्यूनता रह जाय, तो उसे 'अव्याप्ति' कहा जाता है, यानि लक्षण पूर्णरूपेण व्याप्त नहीं हुआ।

अतिव्याप्ति= जब लक्षण उस पदार्थ के अतिरिक्त अन्यत्र भी घट रहा हो या लागू पड़ रहा हो, तो उसे 'अतिव्यापि' कहा जाता है।

असंभव= जब लक्षण किसी भी रूप में घटित न होता हो, तो ऐसे लक्षण को 'असंभव' कहा जाता है।

चरमवृत्तिरूपज्ञान=पदार्थ के अंतिम तात्पर्य तक पहुँचने के लिए एक के पश्चात् दूसरा और दूसरे के पश्चात् तीसरा यों श्रंखलाबद्ध चलते हुए जब पदार्थ के अंतिम तात्पर्य का ज्ञान होता है, ऐसे ज्ञान को चरमवृत्तिरूपज्ञान कहा जाता है। चरमवृत्तिरूपज्ञान अंतिम और निर्णायकज्ञान माना जाता है।

निर्मली का पौधा= कतक। इसके लिए ऐसी मान्यता है कि, यह जल को शुद्ध बना देता है और तत्पश्चात् स्वयं भी जल में घुल जाता है।

मूल अज्ञान= अज्ञान की श्रंखला जहाँ से प्रारंभ हुई है, वह बिन्दु। उस बिन्दु को मूल-अज्ञान कहा जाता है।

कुछ पूर्वपक्षियों का ऐसा कहना भी ठीक नहीं है कि, ज्ञान जिसका निवारण कर दे, वह पदार्थ मिथ्या होता है। क्योंकि निर्णायक तात्पर्य प्राप्त करने के लिए यदि एक के पश्चात् दूसरे और दूसरे के पश्चात् प्रकार के ज्ञान होते रहने की श्रंखला अविरत निरंतर होनी मान ली जाय, तो फिर यह लक्षण चरमवृत्तिरूपज्ञान(अंत में जाकर होने वाला निर्णायक ज्ञान)के संदर्भ में नहीं घट सकेगा क्योंकि चरमवृत्तिरूपज्ञान को तो फिर कोई भी ज्ञान मिटा नहीं सकता इसलिए उक्त लक्षण घटित नहीं होता। स्वयं पूर्वपक्षी ने भी ऊपर यह बात स्वीकार की थी कि, निर्मली के पौधे वाले दृष्टान्तानुसार चरमवृत्तिरूपज्ञान तो स्वयं ही नष्ट होने वाला होता है, उसे कोई दूसरा नष्ट करने वाला नहीं होता, इसलिए उक्त लक्षण घटित नहीं होता।

न चाज्ञानजन्यत्वं मिथ्यात्वमिति वाच्यम् । मूलाज्ञानेऽज्ञानजन्यत्वविरहेण लक्षणाव्याप्तेः । मूलाज्ञानस्य भवत्सिद्धान्तेऽनादित्वाङ्गीकारात् ।

---

[1] करणत्वेति पाठः ।

पक्षी ऐसा भी नहीं कह सकता कि अज्ञान द्वारा जो वस्तु पैदा होती है, वह मिथ्या होती है। क्योंकि पूर्वपक्षी ने अपने द्धान्त में मूल-अज्ञान को तो अनादि माना है अतः फिर मूल अज्ञान से अज्ञान(**मिथ्यात्व**)उत्पन्न होने का प्रश्न कहाँ रह ता है ! इसलिए यह लक्षण मूल-अज्ञान में ही नहीं घट पायेगा।

कृतमनुस्रियते । ब्रह्मणो रूपत्रयम् । तत्राधिदैविकं परं ब्रह्म कृष्णाख्यं प्रथमम् । आध्यात्मिकमक्षरात्मकं द्वितीयम् । ाधिभौतिकं प्रपञ्चात्मकं तृतीयम् । तत्र स्पष्टार्थं गङ्गां दृष्टान्तीकुर्वन्ति द्विरूपं चापि गङ्गावदित्यादिना । हात्म्यसंयुतेति । मर्यादामार्गविधिना सेवतां भोगमोक्षदात्री द्वितीया तीर्थरूपेत्यर्थः ।।३।।४।।५।।६।।

लिए, अब प्रकृत विषय की चर्चा करते हैं। ब्रह्म के तीन रूप हैं। इनमें से पहला रूप आधिदैविक परब्रह्मश्रीकृष्ण हैं। ध्यात्मिक अक्षरात्मकरूप दूसरा है। आधिभौतिक प्रपञ्चात्मक तीसरा है। इन्हीं तीनों रूपों को स्पष्ट करने के लिए चार्यचरणों ने **द्विरूपं चापि गंगावत्** इत्यादि शब्दों से गंगा का दृष्टान्त दिया है। **माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां क्तेमुक्तिदा** इन पदों द्वारा आपश्री ने मर्यादामार्गीय विधि द्वारा गंगा की सेवा करने वालों को भोग-मोक्ष प्रदान करने वाली र्थरूपा गंगा कही है ॥3॥4॥5॥6॥

ाधिदैविक्याः स्वरूपमाहुः तत्रैवेति ।

तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित् ।
गङ्गायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्धये ।।७।।
प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात्तया जले ।
विहिताच्च फलात्तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते ।।८।।
यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत् ।
यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते ।।९।।

ामें से गंगा का आधिदैविकस्वरूप आपश्री ने **तत्रैव** इत्यादि शब्दों द्वारा बताया है।

ीये भौतिके रूपे भेदमाहुः जगत्त्विति ।

जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः ।
देवतारूपवत्प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः ।।१०।।
कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चान्यथा ।
परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः ।।११।।
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम् ।

ा के तीसरे अर्थात् भौतिकरूप में जो भेद हैं, उन्हें आपश्री ने **जगत्तु** इत्यादि शब्दों द्वारा बताया है।

विधं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटम् । आधिदैविके अंशभेदानाहुः । ब्रह्मविष्णुशिवाः देवतारूपवत्प्रोक्ता इत्यन्वयः । त्रायमर्थः । देवताया आधिदैविकरूपाया गङ्गाया रूपाणि अंशभूतानि भीष्मजनन्यादीनि मूर्तिमन्ति तत्तत्पुराणादौ क्तानि, तद्वद्देवतारूपस्य कृष्णस्य ब्रह्मविष्णुशिवरूपाणि अंशभूतानीत्यर्थः । तान्येव रूपाणि जसादिस्वभावप्रकाशकानि जगतो नियामकत्वेनोत्पत्त्यादौ कार्ये व्यापृतानि । तदंशी कृष्णस्तु त्यनिरवध्यानन्दात्मको गुणातीतो रसात्मकलीलामात्रैककार्य इति भावः । ब्रह्मविष्णुशिवानां कृष्णांशत्वेन ाधिदैविकरूपभेदमध्ये गणना । 'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते । स्थित्यादये रविरञ्चिहरेति संज्ञाः', 'न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते' इत्यादिवाक्यात् । ब्रह्मवैवर्ते स्पष्टमेव त्रयाणां ष्णांशत्वप्रतिपादनाच्च । अत एव निबन्धे श्रीमदाचार्यचरणैरवादि 'गुणाभिमानिनो ये वै तदंशाः सगुणाः स्मृता' इति । ग्रे च 'अन्तर्याम्यक्षरं कृष्ण' इत्यारभ्य 'स्वभावकर्मकालाश्चे'त्यनेनाक्षरभेदानुक्त्वा 'रुद्रो ब्रह्मा हरिस्तथे'ति वाक्येन ष्णभेदा उक्ताः ।

ामें **त्रिविधं** का अर्थ है- ब्रह्म का भौतिकस्वरूप जगत तीन प्रकार के स्वभाव से प्रकट हुआ है। ब्रह्म के आधिदैविकस्वरूप

व्यावृत्तानीति

के अंशों के भेद आचार्यचरणों ने ब्रह्मा-विष्णु-शिव यों तीन बताए हैं अर्थात् **ब्रह्माविष्णुशिवास्ततः देवतारूपवत्प्रोक्ताः** इस कारिका का अन्वय यों करें- ब्रह्माविष्णुशिव ये **देवतारूपवत्** कहे गए हैं। इसका अर्थ यह है कि, जिस प्रकार आधिदैविक देवतारूप गंगा की अंशभूतरूपा जो कि भीष्म की माता के मूर्तिमान स्वरूप से पुराण आदि में बतायी गयी है; ठीक उसी प्रकार देवतारूप कृष्ण के अंशभूत ब्रह्मा-विष्णु-शिव हैं। कृष्ण के यही तीनों अंश जगत में राजसतामससात्विक आदि स्वभाव को प्रकाशित करने वाले हैं, जगत के नियामक(संचालक) होने के नाते जगत की उत्पत्ति-लय आदि कार्यों में लगे हुए हैं। इनके अंशी कृष्ण तो नित्य और निरवधि प्रकार से आनन्दात्मक हैं, गुणातीत हैं और रसात्मकलीला करना ही उनका एकमात्र कार्य है- यह भाव है। ब्रह्मा-विष्णु-शिव चूँकि कृष्ण के अंश हैं इसलिए इनकी कृष्ण के आधिदैविकस्वरूप के भेदों में गणना की गयी है। जैसा कि *"सत्त्वं रजस्तम(श्री0भा-1/2/23)","न ते मय्यच्युतेऽजे(श्री0भा-12/10/22)"* इत्यादि वाक्यों में बताया गया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में तो स्पष्टतया ही इन तीनों का कृष्ण के अंश के रूप में प्रतिपादन किया गया है। इसी कारण आचार्यचरणों ने भी निबन्ध में *"गुणाभिमानिनो ये वै(शा0प्र-77)"* यों कहा है। इस कारिका के आगे भी आपश्री ने *"अन्तर्याम्यक्षरं कृष्ण(सर्व-121)"* इस कारिका में *"स्वभावकर्मकालाश्च"* इत्यादि शब्दों द्वारा अक्षरब्रह्म के भेदों को बताकर *"रुद्रो ब्रह्मा हरिस्तथा"* इन शब्दों द्वारा कृष्ण के भेद बताए हैं।

तथाच सिद्धमेतत् । 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत' इत्यत्र क्षराक्षरपुरुषोत्तमा उक्ताः, तेऽत्र 'परं ब्रह्म तु कृष्णो ही'त्यारभ्य 'देवतारूपवत्प्रोक्ता' इत्यन्तेन प्रपञ्चाक्षरकृष्णशब्दवाच्या विवेचिताः । न च गीतासु त्रयाणां पृथगुक्त्या द्वैतं शंक्यम् । 'वासुदेवः सर्वमिती'त्यनेन शुद्धाद्वैतस्यैव भगवदभिप्रायविषयत्वस्फुरणात् । ब्रह्मणीति । स्थितानामिति शेषः । यथा जगतो नियामकाः कृष्णांशा ब्रह्मादयः, इत्थमक्षरब्रह्मभूतानां नियामको हरिरेव न तु ब्रह्मादयः । तेषां ज्ञानिनां जगदतीतत्वादिति भावः । कामचारस्त्विति । अस्मिन् क्षररूपे लोके प्रपञ्चे कामचारः तत्फलप्रेप्सया प्रवृत्तानां मनोरथप्राप्तिप्रवाहो ब्रह्मादिभ्यः कृष्णांशभूतेभ्यो भवति । दृष्टान्तेऽपि गङ्गांशभूताया एव लौकिकव्यवहारः स्मर्यते भारते शन्तनुप्रसङ्गे, न तु साक्षादंशवत्या गङ्गाया आधिदैविक्याः सकाशात् । तस्याः केवलभक्तिलभ्यायाः प्रवाहे सर्वदैव विद्यमानत्वात् ।

इन समस्त विवेचनों से यह सिद्ध हुआ कि, गीता में *"द्वाविमौ पुरुषौ लोके(भ0गी-15/16)"* इस वाक्य द्वारा जो क्षर-अक्षर-पुरुषोत्तम यों ब्रह्म के तीन स्वरूप बताए गए हैं, उन्हीं तीन स्वरूपों को आपश्री ने इस ग्रन्थ में "परं ब्रह्म तु कृष्णो हि(3)" से लेकर "देवतारूपवत्प्रोक्ताः(10)" इस कारिका तक में प्रपञ्च-अक्षरब्रह्म-कृष्ण इन तीन नामों द्वारा विवेचित किया है। तात्पर्य यह कि क्षर=प्रपञ्च, अक्षर=अक्षरब्रह्म और पुरुषोत्तम=श्रीकृष्ण। अब इसमें ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि, यदि गीता में ब्रह्म के तीन अलग अलग स्वरूप बताए हैं तो द्वैतमत सिद्ध हो गया, नहीं ऐसा नहीं क्योंकि स्वयं गीता में ही *"वासुदेवः सर्वमिति(भ0गी-7/19)"* इस वाक्य के अनुसार भगवान का अभिप्राय भी शुद्धाद्वैत में ही है। **ब्रह्मणि** पद का अर्थ है- ब्रह्म में स्थित, अर्थात् अक्षरब्रह्म में निष्ठा रखने वाले; इसका तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार इस जगत के नियामक कृष्ण के अंशभूत ब्रह्मा आदि देवता हैं; ठीक उसी प्रकार **ब्रह्मणि इत्थं हरिः मतः** का अर्थ है- अक्षरब्रह्म में निष्ठा रखने वालों के नियामक हरि-पुरुषोत्तम ही हैं, ब्रह्माविष्णु आदि देवता नहीं, क्योंकि अक्षरब्रह्म में निष्ठ ज्ञानीजन तो उच्चावस्था पर पहुँच जाने के पश्चात् ब्रह्मभूत हो जाते हैं, यदि वे सामान्यजीवों की कोटि में आते, तो उनके नियामक ब्रह्माविष्णुशिव होते परन्तु ये ब्रह्मभूत होकर जागतिक जीवों की कोटि से ऊपर की कोटि में पहुँच जाते हैं, इसलिए ऐसे ज्ञानीजनों के नियामक ब्रह्माविष्णुशिव नहीं अपितु अक्षरब्रह्म होते हैं- यह भाव है। **कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चान्यथा** इन पदों का अर्थ है- इस क्षररूप लोक में यानि कि इस प्रपञ्च में **कामचारः** अर्थात् लौकिककामनाओं की पूर्ति करने के लिए प्रवृत्त हुए जीवों के मनोरथों की पूर्ति ब्रह्मा आदि कृष्ण के अंशभूत देवताओं द्वारा होती है। दृष्टान्त गंगा के संदर्भ में भी देखा जाय तो गंगा का जो भी लौकिकव्यवहार है; जैसा कि शन्तनु के प्रसंग में गंगा का विवाह होना, उसके पुत्र होना इत्यादि समस्त लौकिकव्यवहार आधिदैविकीगंगा की अंशभूता गंगा द्वारा ही संपन्न हुआ है। वहाँ भी शन्तनु की पत्नी साक्षात् गंगादेवी नहीं थी क्योंकि केवल भक्ति ही प्राप्त होने वाली साक्षात् देवीरूपा गंगा तो सर्वदा गंगाप्रवाह में ही विद्यमान रहती है, इस उदाहरण से सिद्ध होता है कि आधिदैविकस्वरूप लौकिककामनाओं की पूर्ति नहीं करता अपितु उसका अंश ही करता है।

ननु लोके कामचारो ब्रह्मादिभ्य इत्युक्ते भक्तानामपि लोकमध्यपातितया तथैव भविष्यतीत्याशंक्य तेषां भिन्नप्रकारमाहुः परमानन्दरूपे त्विति । लोकविशेषणमेतत् । परमानन्दो रूप्यते व्यवह्रियते यत्रेत्यर्थात् । तुशब्दः पूर्वप्रक्रियां व्यावर्तयति । परमानन्दरूपे लोके लीलायोग्यप्रपञ्चे तु पुष्टिभक्तानां स्वात्मनि स्वात्मत्वेन स्फुरिते कृष्ण एव निश्चयो मनःस्थैर्यं स्वसकलमनोरथपूरकत्वबुद्धिस्वच्छन्द[१]प्रवृत्तिप्रवाहो, न तु ब्रह्मादिभ्यः । 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्', 'अहं भक्तपराधीनः', 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् । तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरादि'त्यादिवाक्येषु साधारणेभ्यः पृथक्तया भक्तानां चतुर्विधपुमर्थसाधकत्वस्य स्वस्मिन्नेव भगवताङ्गीकृतत्वात् ।

एक प्रश्न यह होता है कि, ऐसा कहा गया कि- लोक में कामनाओं की पूर्ति ब्रह्मा आदि देवताओं द्वारा होती है; और भगवद्भक्त भी तो लोक में ही रहते हैं अतः भगवद्भक्तों की कामनाओं की पूर्ति भी ब्रह्मा आदि देवताओं द्वारा ही होगी ! तो आपश्री इस शंका का स्पष्टीकरण करते हुए **परमानन्दरूपे तु** इत्यादि शब्दों द्वारा यह बता रहे हैं कि, भगवद्भक्तों की कामनाओं की पूर्ति का प्रकार भिन्न है। यहाँ 'परमानन्दरूप' शब्द 'लोक' का विशेषण है; इसका अर्थ ये हुआ कि जिस लोक में परमानन्द-भगवान के संग व्यवहार किया जाता है, ऐसा लोक। **तु** शब्द पूर्व में कहे ब्रह्मा आदि से कामनापूर्ति होने वाले पक्ष को हटा दे रहा है। अब पूरे **परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः** पदों का तात्पर्य यह हुआ कि- इस परमानन्दरूप लोक में अर्थात् भगवल्लीला के योग्य इसी प्रपञ्च में **स्वात्मनि** अर्थात् पुष्टिभक्तों के लिए उनके आत्मस्वरूप कृष्ण में ही उनका मन निश्चितरूप से स्थिर होता है अर्थात् वे अपनी बुद्धि में ऐसा निश्चय कर लेते हैं कि उनके सकल मनोरथों की पूर्ति कृष्ण से ही होगी, ब्रह्मा आदि देवताओं से नहीं। क्योंकि *"ये भजन्ति तु मां(भ0गी-9/29)","अहं भक्तपराधीनः(श्री0भा-9/4/63)","तेषां नित्याभियुक्तानां(भ0गी-9/22)"* इत्यादि वाक्यों में भगवान ने साधारणभक्तों से अलग करते हुए स्वयं को ही भगवद्भक्तों के चतुर्विधपुरुषार्थों के साधक होने स्वीकार किया है।

एवं साधारणजीवानां पुष्टिस्थानामंशांशिभेदेन कामचारव्यवस्थामुक्त्वा वस्तुतः साधारणानामंशेभ्यो जायमानमपि फलं भगवत एवेति भगवानेव सर्वेषां सर्वफलदायक इति प्रतिपादयन्ति अतस्त्वित्यादिना । वस्तुविमर्शे सर्वस्य कृष्णात्मत्वं तदधीनत्वम्, अतो ब्रह्मवादेन तु कृष्ण एव बुद्धिः फलप्रदत्वबुद्धिर्विधीयताम् । 'फलमत उपपत्तेरि'ति न्यायेन कृष्णस्यैव फलदत्वम् । 'यो यो यां यां तनुं भक्त' इत्यारभ्य 'मयैव विहितान् हि तानि'त्यन्तेन स्वस्यैव फलदातृत्वोक्तेश्च ।

इस प्रकार साधारणजीवों एवं पुष्टिमार्गियों के लिए अंश-अंशी के भेद द्वारा उनकी कामनापूर्ति होने की व्यवस्था कहकर(यानि साधारणजीवों की कामनापूर्ति अंश द्वारा यानि ब्रह्मा आदि देवताओं द्वारा होगी एवं पुष्टिमार्गियों की कामनापूर्ति अंशी द्वारा यानि श्रीकृष्ण द्वारा होगी, यह व्यवस्था कहकर)अब आगे आचार्यचरण यह बता रहे हैं कि वस्तुतः तो साधारणजीवों को अंशरूप देवताओं से जो फल प्राप्त होता है, वह फल भी भगवान ही देते हैं अतः भगवान सभी के लिए और समस्त फलों के दाता हैं- इस बात का प्रतिपादन आचार्यचरण ने **अतस्तु** इत्यादि शब्दों द्वारा किया है। यदि वस्तु/पदार्थ का विचार किया जाय, तो सभी कुछ कृष्णात्मक है और कृष्ण के अधीन है, अतः आपश्री आज्ञा करते हैं- ब्रह्मवाद के अनुसार तो कृष्ण में ही अपनी बुद्धि लगाएँ अर्थात् कृष्ण ही फलप्रदाता हैं- ऐसी बुद्धि विकसित करें। *"फलमत उपपत्तेः(ब्रह्मसूत्र 3/2/38)"* इस न्याय से भी कृष्ण की ही फलदातृता सिद्ध होती है। भगवद्गीता में भी *"यो यो यां यां(भ0गी-7/21)"* इस वाक्य से लेकर *"मयैव विहितान्(भ0गी-7/22)"* इस वाक्य द्वारा भगवान ने स्वयं अपनी ही फलदातृता बतायी है।

आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः ।।१२।।
उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने ।
गङ्गातीरस्थितो यद्वद्देवतां तत्र पश्यति ।।१३।।
तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति ।

---

[१] स्वच्छन्दवृत्तिरूपः कामचार इति पाठः ।

संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा ।।१४।।
अपेक्षितजलादीनामभावात्तत्र दुःखभाक् ।
तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः ।।१५।।
आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत् ।
लोकार्थी चेद्भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ।।१६।।
क्लिष्टोऽपि चेद्भजेत्कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा ।
ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु ।।१७।।
मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः ।
अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः ।।१८।।
उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति ।
ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान्निरूपितः ।।१९।।
भक्त्यभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः ।
अन्यथाभावमापन्नस्तस्मात्स्थानाच्च नश्यति ।।२०।।
एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम् ।
एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात् ।।२१।।

आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतना इति । आत्मनि आत्मविषये । उच्यत इति शेष इति प्रभुचरणाः । तथाच आत्मनीति प्रतिज्ञायां ज्ञेयम् । ब्रह्मरूपे जीवे छिद्राश्चेतना व्योम्नि छिद्राश्चेतना इवेत्यन्वयः । छिद्राणि विषयत्वेन वेद्यन्ते यासु चेतनासु ताः छिद्राश्चेतनाः । अर्शआद्यच् । चेतनाशब्दो बुद्धिवाचकः । 'प्रतिपज्ज्ञप्तिचेतना' इति कोशात् । तथाच छिद्राश्चेतनाश्छिद्रवत्यो बुद्धय इत्यर्थः । बुद्धीनां छिद्रवत्त्वं तु विषयत्वेन छिद्राणां तत्र स्फुरणात् । एवञ्च व्योम्नि अविद्यमानानां छिद्राणां बुद्धिवृत्तिषु स्फुरणाच्छिद्राश्चेतना विपर्यासबुद्धय इति फलितम् । 'संयशोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च । स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथगि'ति कपिलवाक्याद्विपर्यासस्य बुद्धिवृत्तित्वात् । तत्र दोषविशेषवद् दृशा व्योम्नि छिद्राणि प्रतीयन्ते । अतश्छिद्रवत्यो बुद्धयो व्योम्नि यथा मिथ्याभूतपदार्थावगाहिन्यः, तथा ब्रह्मरूपे जीवे छिद्राश्चेतनाः सदोषत्वादिबुद्धयो मिथ्याभूतसंसारावगाहिन्यो, न तु यथार्थावगाहिन्यः । 'जीवसंसार उच्यत' इति निबन्धे संसारस्य मिथ्याभूतत्वेन सिद्धान्तितत्वात् । 'उच्यते, न तु जायत' इति व्याख्यानात् ।

अब **आत्मनि ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः** इत्यादि पदों की व्याख्या करते हैं। **आत्मनि** पद से आचार्यचरण आत्मा के विषय में कह रहे हैं। प्रभुचरणों ने इसके व्याख्यान में यह लिखा है कि- **आत्मनि** शब्द का अर्थ आचार्यचरणों ने **ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः** इन पदों द्वारा कहा है। अर्थात् कारिका का अर्थ **आत्मनि = ब्रह्मरूपे तु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः** इस प्रकार करना चाहिए यह कहना चाह रहे हैं। कारिका का अर्थ है- ब्रह्मरूप जीव में जो छिद्र/चेतना दिखाई देती है, उसे आकाश को छलनी के माध्यम से देखने पर दिखाई देने वाले छिद्रों की भाँति भ्रामक समझना चाहिए। जो बुद्धि छिद्र देख रही है, ऐसी बुद्धि को 'छिद्राचेतना' कहा जाता है। **चेतनाः** शब्द का अर्थ है- बुद्धि; *"प्रतिपज्ज्ञप्तिचेतनाः(अमरकोष-1/5/1)"* इस कोशवाक्यानुसार। इसलिए 'छिद्राचेतना' का अर्थ है- छिद्र देखने वाली बुद्धि। बुद्धि को छिद्राचेतना इसलिए कहा गया क्योंकि ऐसी बुद्धि को विषयरूप से आकाश में छिद्र होने दिखाई देते हैं। चूँकि आकाश में छिद्र न होते हुए भी इसप्रकारक बुद्धि से उसमें छिद्र होने दिखाई देते हैं अतः ऐसी बुद्धि को भ्रमात्मकबुद्धि कहा जाता है अर्थात् 'विपरीतबुद्धि'। जैसा कि कपिलजी ने *"संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च(श्री0भा-3/26/30)"* इस वाक्य में विपर्यास को भी बुद्धि की एक वृत्ति बताया है। दोषयुक्तबुद्धि से आकाश में छिद्र होने प्रतीत होते हैं। अतः छिद्रयुक्त बुद्धियाँ जिस प्रकार आकाश में छिद्र जैसे मिथ्याभूत पदार्थों को ग्रहण कर लेती हैं; ठीक उसी प्रकार जीव की दोषयुक्त बुद्धि ब्रह्मरूप जीव में मिथ्याभूत संसार को ग्रहण कर लेती हैं(अर्थात् ब्रह्मरूपजीव को संसारी मान लेती हैं),यथार्थ को ग्रहण नहीं करती। क्योंकि *"जीवसंसार उच्यते(शा0प्र-23)"* इस निबन्धकारिका में संसार को मिथ्याभूत बताया गया है। इसी कारिका का व्याख्यान करके आचार्यचरणों ने यह भी बताया है कि, जीव में अहन्ताममतात्मक संसार होना तो कहने के तौर पर कह दिया जाता है,

परन्तु वस्तुतः जीव में संसार होता नहीं, उसका सांसारिक अहन्ताममता से कोई लेना-देना नहीं होता। जीव में संसार होना कहा जाता है, उत्पन्न नहीं होता(संसार का अर्थ है- अहन्ताममता। तात्पर्य यह कि ऐसे अहन्ताममतात्मक संसार का अस्तित्व नहीं होता। प्रपञ्च तो अस्तित्व में आता है परन्तु संसार की कोई सत्ता नहीं होती; इसलिए कहने के तौर पर जीव में संसार होना कह दिया जाता है परन्तु वास्तव में संसार का कोई अस्तित्व नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि, जीव माया की उपाधि से बँधा होने के कारण ऐसा मान लेता है कि वह चारों ओर से अहन्ताममतात्मक सुखदुःखात्मक संसार से घिरा है परन्तु वास्तविक रूप से तो जीव ब्रह्म का अंश है और उसका संसार से कोई लेना-देना नहीं है, संसार तो उसका मात्र भ्रम है, इसी कारण संसार के लिए 'उत्पन्न होता है' ऐसा नहीं कहा गया अपितु 'होता है' यों कहा गया क्योंकि भले ही अहन्ताममतात्मकसंसार मिथ्या हो परन्तु जीव को उसकी अनुभूति तो होती है और वह सुखदुःख का अनुभव तो करता ही है, इस कारण जबतक उसे ब्रह्मज्ञान न हो जाय तब तक के लिए संसार की व्यावहारिक सत्ता बताने के लिए उसमें संसार होना कह दिया जाता है, परन्तु वास्तव में संसार की कोई सत्ता नहीं होती- यह अर्थ है। जबकि प्रपञ्च तो उत्पन्न होता है, अस्तित्व में आता है अतः प्रपञ्च के लिए 'उत्पन्न होता है' ऐसा कहा जा सकता है परन्तु संसार के लिए नहीं)।

व्योम्नि यथा छिद्राश्चेतनाः, तथा जीवे छिद्राश्चेतनाः । पूर्वत्र छिद्रशब्दस्य विवरविशेषवाचकत्वम्, उत्तरत्र तु छिद्रशब्दो दोषवाचकः । 'खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यती'त्यादौ दोषाणां छिद्रपदवाच्यत्वात् । तथाच जीवो ब्रह्मांशत्वेन वस्तुतो ब्रह्मरूप एव, न तु संसारी । संसारित्वं त्वौपाधिकम् । तच्च पूर्वोक्तकृष्णसेवानाश्यमित्यभिप्रायः । इदमेवानुपदमुपपाद्यते उपाधिनाश इत्यादिना । स्वसिद्धान्ते यादृशं जीवस्वरूपं तद्बन्धमुक्तिस्वरूपं च प्रभुचरणैरेतट्टीकायां विवृतमेव 'जीवा ह्यणवोऽक्षरात्मका' इत्यादिनेति न मया लिख्यते ।

जिस प्रकार की बुद्धि आकाश में छिद्र देखती है, उसी प्रकार की बुद्धि जीव में छिद्र/दोष देखती है। कारिका में दिए दृष्टान्त(व्योम)में तो छिद्र शब्द का अर्थ 'विवर' है, जबकि दार्ष्टान्त(आत्मा)में छिद्र पद दोषवाचक समझना चाहिए। छिद्र पद दोषवाचक भी होता है, इसका उदाहरण यह है कि, '*दुष्टजन दूसरों के सरसों बराबर छिद्रों को भी देखकर उनकी निन्दा करते हैं परन्तु अपने बिल जितने बड़े छिद्रों की ओर नहीं देखते*' इस वाक्य में छिद्र पद को दोषवाचक बताया गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि, वास्तव में तो जीव ब्रह्म का अंश होने के कारण ब्रह्मरूप ही है, संसारी नहीं है। उसका संसारी होना तो माया की उपाधि के कारण है और उसका संसार पूर्व में कही कृष्णसेवा द्वारा नष्ट होता है- यह आचार्यचरणों का अभिप्राय है। इसी बात को आचार्यचरणों ने **उपाधिनाशे** इत्यादि पदों द्वारा कहा है। अपने सिद्धान्त में जीव का स्वरूप जिस प्रकार का है और उसे होने वाले बन्धन या मुक्ति का स्वरूप भी क्या है, इस मुद्दे को प्रभुचरणों ने अपनी टीका में 'जीवा *ह्यणवोऽक्षरात्मकाः*' इत्यादि पदों द्वारा विवृत कर ही दिया है अतः अब मैं इस विषय में कुछ नहीं लिख रहा हूँ।

ननु जीवस्याणुत्वं निरूपितं, तन्मास्तु । किन्त्वविद्यायां ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीव इत्युररीकार्यम् । पूर्वं बहुभिरादृतत्वादिति चेत्, न, नीरूपस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बासम्भवात् ।

[किन्तु इसमें कोई पूर्वपक्षी यह शंका करता है कि- जीव को जो अणु बताया जा रहा है, वैसा नहीं है; किन्तु अविद्या में जब ब्रह्म का प्रतिबम्ब पड़ता है, तो उस प्रतिबम्ब को 'जीव' मानना चाहिए क्योंकि पूर्वकाल में कइयों ने यही बात स्वीकारी है।] यदि पूर्वपक्षी ऐसी शंका करे तो इसका समाधान यह है कि, पूर्वपक्षी के सिद्धान्त में ब्रह्म तो रूपरहित माना गया है अतः जो रूपरहित है, उसका प्रतिबम्ब पड़ना भी असंभव बात है।

न च गुणे गुणानङ्गीकारान्नीरूपस्य रूपस्य प्रतिबिम्बदर्शनाद्रूपरहितस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्बः सुलभ इति वाच्यम् । रूपवतो घटादेः प्रतिबिम्बिततया तन्निष्ठरूपप्रतीतौ सिद्धायां पृथग्रूपप्रतिबिम्बे मानाभावात् । स्वाश्रयातिरेकेण रूपोपलब्धेः सर्वतन्त्रविरुद्धत्वात् ।

[पूर्वपक्षी का यह तर्क भी ठीक नहीं है कि- चूँकि गुण में गुण नहीं रहता इसलिए रूप में रूप भी नहीं रहता, इस कारण यदि रूपरहित रूप का प्रतिबिम्ब पड़ना सुलभ होता है, तो फिर इस दृष्टि से रूपरहित ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ना भी सुलभ बनता है] पूर्वपक्षी ऐसा तर्क नहीं दे सकता क्योंकि रूपवान घट आदि का जब प्रतिबिम्ब पड़ना सिद्ध हो ही जा रहा है, तो फिर अब घटनिष्ठरूप का भी पृथकतया एक रूप स्वीकार करना और फिर उस पृथकरूप का प्रतिबिम्ब स्वीकार करना- इस बात में कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि रूप जिस वस्तु का हो, उस वस्तु को छोड़कर कहीं अन्यत्र प्राप्त हो- यह बात समस्त शास्त्रों

से विरुद्ध बात है, अपितु रूप तो जिस वस्तु का हो, उसी वस्तु में रहता है, अन्यत्र नहीं। अर्थात् यदि घट(घड़े)का उदाहरण लें तो घट में रहा हुआ रूप तो घट के माध्यम से और घट के आकार का ही दिखाई देता है, वस्तु के बिना नहीं।

किञ्च । दर्पणादौ प्रतिबिम्बितं घटनिष्ठरूपं पश्यन् स्वयं प्रतिबिम्बितमिति रूपं च नीरूपमिति नीरूपस्य ब्रह्मणोपि प्रतिबिम्ब इति मनुषे । तथैव रूपशून्यं रूपं चाक्षुषमिति नीरूप: परमात्मापि चक्षुर्ग्राह्य इति मन्यस्व ।

और, इसी में एक बात और भी है कि [[यदि पूर्वपक्षी ऐसा मानता हो कि, जिस प्रकार दर्पण आदि में प्रतिबिम्बित होने वाले घटनिष्ठरूप के साथ साथ उस रूपरहित रूप का भी प्रतिबिम्ब दिखाई देता है; ठीक इसी प्रकार रूपरहित ब्रह्म का भी प्रतिबम्ब दिखाई देता है]] - तो फिर उसे यह मान लेना पड़ेगा कि रूपरहित रूप को भी यदि चक्षुओं से देखा जा सकता है, तो फिर रूपरहितब्रह्म को भी आँखों से देखा जा सकता है- जो कि उसके सिद्धान्त से नितांत विपरीत जाने वाली बात होगी।

ननु नीरूपस्य गगनस्य प्रतिबिम्बान्नीरूपस्य ब्रह्मणोऽपि स्यादिति चेत्, न, जलादावौपाधिकस्य प्रतिबिम्बितरूपस्य दर्शनादौपाधिकेन तेन च वियत: संबन्धाभावादाकाशप्रतिबिम्बस्य वक्तुमयोग्यत्वात् । अन्यथा नीलमिदं गगनमितिप्रतीत्या गगनचाक्षुषत्वमङ्गीकृत्य ब्रह्मचाक्षुषत्वमङ्गीकार्यं स्यात् ।

[पूर्वपक्षी अब दूसरा तर्क यह देता है कि, जिस प्रकार गगन तो रूपरहित है, तथापि दर्पण या जल में उसका प्रतिबम्ब दिखाई देता ही है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म भी रूपरहित है तथापि उसका प्रतिबम्ब अविद्या/माया में भासित होता है] यदि पूर्वपक्षी ऐसा तर्क देता हो, तो नहीं, यह तर्क ठीक नहीं है क्योंकि जल या दर्पण आदि में गगन का जो नीला उपाधिरूपप्रतिबिम्ब दिखाई देता है, उस नीले प्रतिबम्ब का गगन/शून्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता, इसलिए नीले प्रतिबम्ब को आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं कहा जा सकता। अन्यथा, यदि पूर्वपक्षी इस सिद्धान्त को नहीं मानता, तो फिर नीले गगन की प्रतीति द्वारा यदि गगन को देखने की बात वह स्वीकार कर लेता है, तो फिर उसे ब्रह्म को भी चक्षुओं से देख सकने की बात स्वीकार कर लेनी पड़ेगी।

न च कल्पितरूपवतो जगज्जन्मादिकारणस्य भवत्येव चाक्षुषत्वमिति वाच्यम् । सोपाधिके ब्रह्मणि भवन्मते मायिकरूपाङ्गीकाराच्चाक्षुषत्वप्रतिबिम्बितत्वयो: सुवचत्वेऽपि शुद्धे नीरूपे ब्रह्मणि द्वयोरप्यसम्भवेन विवक्षितप्रमेयालाभात् । अपि च । चक्षुर्ग्रहणयोग्यस्यैव प्रतिबिम्बसम्भवं जानन्नप्ययोग्यस्य शुद्धस्य प्रतिबिम्बं प्रतिपादयन्नयोग्यस्य चाक्षुषत्वं किमिति न मनुषे ।

पूर्वपक्षी ऐसा भी नहीं कह सकता कि, निर्विशेषब्रह्म को तो प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता परन्तु कल्पितरूपवान और जगत को जन्म देने वाले कारणभूत सगुणब्रह्म को तो देखा ही जा सकता है ! नहीं, पूर्वपक्षी ऐसा भी नहीं कह सकता क्योंकि सोपाधिकब्रह्म(सगुणब्रह्म)का तो पूर्वपक्षी ने मायिकरूप स्वीकार कर रखा है अतः चलो इस दृष्टि से सोपाधिकब्रह्म को देखना और उसका प्रतिबम्ब पड़ना ये दोनों बातें तो एक घड़ी मानी भी जा सकती हैं, परन्तु रूपरहित शुद्धब्रह्म में तो ये दोनों ही बातें नहीं मानी जा सकेंगी; इसलिए पूर्वपक्षी जो सिद्धान्त स्थापित करना चाह रहा है, वह उसे प्राप्त नहीं होगा। एक बात यह भी है कि, जब पूर्वपक्षी यह जानता है कि, जो वस्तु आँखों से दिखाई देती है, उसी का प्रतिबम्ब होना सम्भव हो सकता है, तो फिर उसे व्यर्थ में इतनी दौड़-धूप करने की क्या आवश्यकता है कि, वो पहले तो ब्रह्म को रूपरहित माने, फिर रूपरहितब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ना माने जिसको चक्षुओं से भी नहीं देखा जा सकता और तब उसके प्रतिबिम्ब को आँखों से दिखाई देने वाला माने ! इतनी दौड़-धूप करके अंततोगत्वा रूपरहित के प्रतिबिम्ब को आँखों से दिखाई देने वाला मानने के बजाए वह ब्रह्म को ही आँखों से दिखाई देने वाला क्यों नहीं मान लेता !

अन्यच्च । अवयवेऽवयवानङ्गीकाराच्चरणरहितयोरपि चरणयोर्गमनदर्शनाच्चरणरहितस्याऽपि कस्यचिद्देवदत्तादेर्गमनसम्भव: स्यात्, स चाखिलप्रमाणविरुद्ध इति चरणविशिष्ट एव पुंसि गतिरङ्गीकार्या । एवं नेत्रादावपि । तथा च रूपविशिष्ट एव प्रतिबिम्बते, न तु रूपं पृथक्तयेति न रूपशून्यस्य प्रतिबिम्ब इत्यविद्यायां ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीव इति नादर्तव्यं सुधीभि: ।

[[एक बात यह भी है कि, यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहता है कि, वस्तुतः तो ब्रह्म का कोई रूप नहीं है परन्तु जब उसका प्रतिबिम्ब माया पर पड़ता है, तब हमें अलग से ब्रह्म का मायिक प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगता है, जैसे गगन तो शून्य है, उसका कोई रूप नहीं है फिर भी जल या दर्पण में उसका नीलिमा अलग से दिखाई देती है]] .... तो पूर्वपक्षी का यह सिद्धान्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि पूर्वपक्षी ने तो ऐसी विचित्र बात कह दी कि, किसी देवदत्त नामक व्यक्ति के पैर न हों फिर भी वह

चल रहा हो ! ऐसी विचित्र बात तो समस्त प्रमाणों से विरुद्ध जायेगी कि किसी के पैर नहीं हों, फिर भी वह चलता हो, ठीक उसी प्रकार से विचित्र जिस प्रकार पूर्वपक्षी ने कहा कि ब्रह्म का कोई आकार नहीं है फिर भी उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसलिए यही मानना पड़ेगा कि जिसके पैर हैं वही चलता है। इसी प्रकार जिसके नेत्र हों, वहीं देख सकता है। ठीक इसी प्रकार यह बात भी माननी पड़ेगी कि, जिसमें कोई रूप हो, उसी का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है, अधिष्ठान के बिना अलग से केवल रूप का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। इसलिए विद्वानों को यह सिद्धान्त नहीं स्वीकारना चाहिए कि, अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ा और जीव प्रतीति होने लगी।

ननु जपाकुसुमारुणगुणो द्रव्यं विहायैव स्फटिके प्रतिस्फुरति । अन्यथा दर्पणादौ मुखान्तरप्रतीतिवत् स्फटिके जपाकुसुमान्तरप्रतीतिः स्यात् । सा तु नास्ति । किन्तु केवलमरुणिमैव प्रतीयते । तत्र च नीरूपत्वमेव । गुणे गुणानङ्गीकारात् । अतो नीरूपस्याप्यरुणस्य प्रतिबिम्बदर्शनान्नीरूपस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिबिम्ब उपपन्न इति प्राप्ते – समाधिरुच्यते । रूपमात्रस्यापि प्रतिबिम्बे रूपवतो जपाकुसुमादेः कारणत्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धम् । रूपवज्जपाकुसुमादि विना रूपप्रतिबिम्बाभावात् । एवं सर्वत्र ज्ञेयम् । न हि रूपवन्तं विना रूपमात्रप्रतिबिम्बो लभ्यते कुत्रापि । तथाच प्रतिबिम्बत्वावच्छिन्ने रूपवद्वस्तुनः कारणत्वाद्ब्रह्मणः प्रतिबिम्बो नोपपद्यते । अत एवाचार्यवर्यैर्निबन्ध उक्तं 'न प्रतिस्फुरणं रूपरहितस्य कदाचने'ति । अत एव न वायोः प्रतिबिम्बः ।

[अब पूर्वपक्षी इसमें यह तर्क देता है कि, रूप रूपवान के बिना भी अलग से दिखाई दे सकता है। वह कहता है कि जिस प्रकार जपाकुसुम(**लाल रंग का पुष्प**)को स्फटिकमणि के सामने रख दिया जाय तो स्फटिकमणि लालरंग की तो दिखाई देने लगती है, परन्तु स्फटिकमणि में केवल लालिमा ही दिखाई देती है, जपाकुसुम का प्रतिबम्ब दिखाई नहीं पड़ता। इसलिए जिस प्रकार मुख को दर्पण में देखने पर मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण में दिखाई देता है, उसी प्रकार स्फटिकमणि में लालिमा के संग-संग जपाकुसुम का प्रतिबिम्ब भी दिखाई देना चाहिए था, परन्तु केवल लालिमा ही प्रतीत होती है, जपाकुसुम का प्रतिबिम्ब प्रतीत नहीं होता, इसलिए जिस प्रकार केवल रूपरहित लालिमा ही प्रतिबिम्बित होती है, ठीक इसी प्रकार रूपरहितब्रह्म का भी प्रतिबिम्ब दिखाई देना उचित ठहराया जा सकता है]]- यदि पूर्वपक्षी इस प्रकार से कहता हो, तो अब हम इसका समाधान लिख रहे हैं। इसमें यह बात समझनी चाहिए कि, भले ही स्फटिकमणि में जपाकुसुम की केवल लालिमा का ही प्रतिबिम्ब आया, तथापि प्रतिबिम्ब आने का कारण तो जपाकुसुम ही है क्योंकि जपाकुसुम सामने न रखा हो तो स्फटिकमणि में लालिमा का प्रतिबिम्ब आ ही नहीं सकता ! इसलिए लालिमा को जपाकुसुम का ही रूप मानना पड़ेगा- यह सिद्ध होता है। इसी बात को सर्वत्र लागू करके मुख्यसिद्धान्त समझ जाना चाहिए। रूपवान के बिना केवल रूप का प्रतिबिम्ब कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसका फलितार्थ यह हुआ कि, चूँकि प्रतिबिम्ब तो रूपवान वस्तु का ही हो सकता है अतः पूर्वपक्षी के सिद्धान्त के दृष्टिकोण से देखें तो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब कहीं भी पड़ना संभव नहीं बन सकता क्योंकि पूर्वपक्षी के सिद्धान्त में तो ब्रह्म को रूपरहित बताया गया है। इसी कारण आचार्यचरणों ने निबन्ध में *"न प्रतिस्फुरणं रूपरहितस्य कदाचन(सर्व-136)"* यों कहा है। और इसी कारण देखिए कि वायु का भी प्रतिबिम्ब नहीं होता क्योंकि वायु का कोई रूप नहीं होता।

एवं सति रूपवान् घटादिर्दर्पणादौ धर्मिरूपेण प्रतिबिम्बते । रूपवान् जपाकुसुमादिः स्फटिके धर्मरूपेणारुणगुणेन प्रतिस्फुरति । एवमुभयथा रूपवत एव प्रतिबिम्बसम्भवान्नीरूपस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बो न युक्तिसह इति सुधियो विदन्तु । अत एव प्रतिबिम्बत्वावच्छिन्ने रूपवतः कारणतामवगत्य विद्वन्मण्डन उक्तम् – 'रूपवत एव प्रतिबिम्बनियमादि'ति ।

इन समस्त विवेचनों द्वारा यह बात सिद्ध होती है कि, घट-पट आदि का तो दर्पण में स्वयं धर्मि-घटपट के सहित प्रतिबिम्ब पड़ता है, केवल उसके रंग का नहीं। और जहाँ तक जपाकुसुम की बात है, तो जपाकुसुम का स्फटिकमणि में धर्मि-जपाकुसुम का नहीं परन्तु उसकी लालिमारूपी धर्म का प्रतिबम्ब पड़ता है। भले ही एक स्थल पर धर्मि का और दूसरे स्थल पर उसके धर्म का प्रतिबिम्ब पड़ा, परन्तु दोनों ही स्थलों पर रूपवान पदार्थ होना आवश्यक है अर्थात् दोनों ही स्थलों पर रूपवान पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब पड़ना संभव हुआ अतः विद्वानों को यह बात जान लेनी चाहिए कि यदि पूर्वपक्षी ब्रह्म को रूपरहित बताता हो तो ऐसे रूपरहित ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ना सम्भव नहीं हो सकता। इसीलिए प्रतिबिम्ब पड़ने में रूपवान पदार्थ ही कारण है- यह बात बताने के लिए प्रभुचरणों ने विद्वन्मंडन में *"रूपवान का ही प्रतिबिम्ब होता है"* यों कहा है।

उपाधिनाश इति । भगवज्जीवयोरन्तरायभूताऽविद्या तस्याः कार्यस्य नाशे सति । 'अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूवे'ति श्रुतेर्ज्ञानं प्रत्यविद्यानाशस्य प्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणतयाऽवश्यमपेक्षणात् । **विज्ञान** इति । ब्रह्मणो विशेषतः सर्वात्मकत्वेन सर्वातिरिक्तरूपत्वेन च ज्ञाने सति । **ब्रह्मात्मत्वावबोधन** इति । ब्रह्मज्ञानानन्तरं जडजीवयोस्तदात्मकतया स्वस्यापि ब्रह्मात्मत्वेनावबोधे सति वक्ष्यमाणं फलं भवति । सिद्धान्ते हि ब्रह्मज्ञानं पुमर्थाय । 'यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवती'ति श्रुतेः । न त्वेकदेशभूतं पराभिमतं जीवमात्रे ब्रह्मत्वेन ज्ञानम् । एवं सत्यविद्यानाशे ब्रह्मस्वरूपज्ञानं तस्मिन् सति सर्वस्यापि पदार्थजातस्य बोधः, तेन स्वस्यापि सर्वमध्यपातितया निर्विकाराक्षरत्वेनापरोक्षस्फूर्तिः, ततो 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'ति श्रुतेरक्षरात्मकतायां सिद्धायां 'तद्धाम परमं मम', 'विष्णोर्धाम परं साक्षात्पुरुषस्य महात्मन' इत्यादिवाक्यैरक्षरस्य भगवदधिष्ठानत्वात्तत्र स्थितमक्षरातीतं पुरुषोत्तमं कृष्णं ज्ञानी भक्तः पश्यति । तदाहुः **तथा कृष्णं परं ब्रह्मे**त्यादि । तत्र दृष्टान्तः **गङ्गातीरस्थित** इति । यथा प्रवाहसन्निधौ वर्तमानस्तन्मध्यवर्तिनीं मूर्तिमतीं गङ्गां श्रद्धाधिक्ये पश्यति, तथा ज्ञानी भक्तोऽपि भगवदधिष्ठानत्वेन निकटस्थायिन्यक्षरात्मके स्वस्वरूपे भक्त्या कृष्णं पश्यतीति भावः । अत एव भगवता 'चतुर्विधा भजन्ते मामि'ति सन्दर्भे ज्ञानी भक्तः प्रशंसितः । निबन्धेऽपि 'ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः पर' इत्युक्तम् ।

उपाधिनाशे इत्यादि शब्दों का अर्थ है- भगवान और जीव के बीच अन्तराय पैदा करने वाली अविद्या के कार्य का जब नाश हो जायेगा, तब। अविद्या का नाश होना इसलिए आवश्यक है क्योंकि *"अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव(यजुर्वेद 17/31)"* इस श्रुति के अनुसार ज्ञान तभी उत्पन्न होगा जब अविद्या का नाश होगा अतः अविद्या का नाश होने से चूँकि समस्त प्रतिबन्ध दूर होते हैं इसलिए अविद्या का नाश होना आवश्यक है। **विज्ञाने** का अर्थ है- ब्रह्म को विशेषरूप से, सभी से अतिरिक्त, सभी से अलग जान लेने पर। **ब्रह्मात्मत्वावबोधने** का अर्थ है- ब्रह्मज्ञान हो जाने के पश्चात् जड़ और जीव को ब्रह्मरूपतया एवं स्वयं को भी ब्रह्मरूपतया जान लेने पर इसके आगे की कारिका में(13वीं)कहा हुआ फल प्राप्त होता है। हमारे शुद्धाद्वैतसिद्धान्त में पुरुषार्थप्राप्ति(एतन्मार्गीयपुरुषार्थ)के लिए ब्रह्मज्ञान(**ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान**)प्राप्त करना होता है, जैसा कि *"यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवति"* इस श्रुति में कहा भी गया है, दूसरों के मत की भाँति नहीं कि वे केवल जीव को ही ब्रह्म समझ लेने को ब्रह्मज्ञान होना मानते हैं। इस परिस्थिति में यह समझें कि जब अविद्या का नाश होता है और उसे ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान होता है और समस्त पदार्थों का बोध होता है, तब चूँकि समस्त जगत के अंतर्गत वह खुद भी है अतः उसे अपने आपको निर्विकार अक्षरात्मक होने का अपरोक्षज्ञान(**अर्थात् अपने आप को जागतिक पदार्थों से भिन्न विकाररहित अक्षरब्रह्मात्मक होने की प्रत्यक्ष समझ**)होता है और इसके पश्चात् *"ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति"* इस श्रुति के अनुसार जब वह स्वयं भी अक्षररूप बन जाता है, तब *"तद्धाम परमं मम(भ0गी-8/21)","विष्णोर्धाम परं साक्षात्(श्री0भा-3/11/41)"* इत्यादि वाक्यों के अनुसार चूँकि अक्षरब्रह्म पुरुषोत्तम का अधिष्ठान है अतः अक्षरब्रह्मरूप स्वयं के भीतर स्थित पुरुषोत्तमकृष्ण को ज्ञानीभक्त देखता है। इस बात को आचार्यचरणों ने **तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति** इत्यादि शब्दों द्वारा कहा है। इसको समझाने के लिए आपश्री ने **गंगातीरस्थितः** इत्यादि शब्दों से गंगा का दृष्टान्त दिया है। गंगा के दृष्टान्त द्वारा आपश्री यह समझाना चाह रहे हैं कि, जिस प्रकार गंगा के प्रवाह के समक्ष बैठा हुआ गंगा का भक्त अपनी विशेष श्रद्धा से प्रवाह में ही देवीरूपा का दर्शन कर लेता है; ठीक उसी प्रकार ज्ञानीभक्त भी भगवान के अधिष्ठानरूप अपने अक्षरात्मकस्वरूप के भीतर भक्ति द्वारा कृष्ण के दर्शन करता है- यह भाव है। इसी कारण भगवान ने *"चतुर्विधा भजन्ते(भ0गी7/16)"* इस वाक्य के संदर्भ में ज्ञानीभक्त की प्रशंसा की है। निबन्ध में भी आचार्यचरणों ने *"ज्ञानी चेद्भजते(शा0प्र-14)"* यों कहा है।

ननु भक्त्या केवलयैव सर्वपुरुषार्थसिद्धौ किमर्थं ज्ञानाग्रह इत्याशंक्य प्रेमवतस्तदनपेक्षत्वेप्यनुत्पन्नस्नेहस्य भजनाङ्गत्वेनास्त्येव ज्ञानापेक्षेति तद्रहितस्य दोषमाहुः **संसारीति** । अनिवृत्ताहन्ताममताकोऽनुत्पन्नबोध इति यावत् । स तु कृष्णं भजन् दिदृक्षाया आधिक्यादविद्ययाऽन्तरायभूतया दर्शनाभावादुःखभाग्भवति । अत्र दृष्टान्तः **दूरस्थ** इति । यथा गङ्गाभक्तः स्नानपानाद्यर्थं तज्जलमभिलषन्नादिशब्देनाधिदैविकीं दिदृक्षन् दर्शनाभावात्प्रवाहरूपगङ्गाविप्रकर्षेणाधिदैविकीविप्रकर्षादुभयमलभमानो दुःखी भवति तद्वदित्यर्थः । सिद्धमुपदिशन्ति **तस्मादिति** । **श्रीकृष्णमार्गस्थ** इति । भक्तिमार्गस्थ इत्यर्थः । **सर्वलोकतः** संसारतः विमुक्तो भूत्वा

शुद्धपुष्टिमार्गीयव्रजसुन्दरीवृन्दविहारिणं कृष्णमेव निरवध्यानन्दं विशेषेण चिन्तयेत्, मानसीसिद्ध्यर्थं लीलाविशिष्टभावनं कुर्यादिति भावः । अयमेवार्थः श्रीमत्प्रभुचरणैष्टीकायां विवृतः 'कृष्णपदा'दित्यारभ्य, 'आत्मपदं भगवत्पर'मित्यन्तेन ।

किन्तु एक प्रश्न यह होता है कि, यदि केवल भक्ति से ही समस्त पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं, तो फिर यहाँ आचार्यचरण ब्रह्मज्ञान होने का इतना आग्रह क्यों रख रहे हैं ? तो इसका समाधान यह है कि, जिसको भगवान से प्रेम सिद्ध हो चुका है, उसे तो ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता नहीं है परन्तु जिसे भगवान के प्रति पूर्णरूपेण स्नेह उत्पन्न हुआ नहीं होता, उसे भजन करने के अंगरूपतया ब्रह्मज्ञान की अपेक्षा रहती है। और ऐसा भक्त यदि ब्रह्मज्ञानरहित है, तो इसमें दोष है- यह आपश्री **संसारी** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री संसारी उसे कह रहे हैं, जिसकी अहन्ताममता अभी मिटी नहीं है अर्थात् ब्रह्मबोध नहीं हुआ है। ऐसे संसारी को कृष्णभजन करते हुए जब भगवान के दर्शन करने की अधिक इच्छा होती है परन्तु भगवान और जीव के बीच अन्तराय पैदा करने वाली अविद्या उसे प्रतिबन्ध करती रहती है, इस कारण भगवान के दर्शन न होने के कारण वह दुःखी होता रहता है। इस बात को समझाने के लिए आचार्यचरणों ने **दूरस्थ** इत्यादि शब्दों से गंगा का दृष्टान्त दिया है। इस कारिका द्वारा आपश्री यह समझाना चाह रहे हैं कि, जिस प्रकार गंगा का भक्त गंगा का स्नान-पान इत्यादि के लिए गंगा के जल की अभिलाषा रखता है और जल के साथ-साथ आधिदैविकी देवीरूपा गंगा के दर्शनों की भी अभिलाषा रखता है, परन्तु, प्रवाहरूपा गंगा से दूर होने के कारण आधिदैविकी देवीरूपा गंगा से भी दूर होता है, इसलिए उसे दोनों ही रूप प्राप्त न होने के कारण दुःखी होता है; ठीक उसी प्रकार संसारी भी अविद्यारूपी प्रतिबन्ध के कारण भगवान से दूर है अतः भगवद्दर्शन प्राप्त न होने से दुःखी होता रहता है। इन सभी विवेचनों से जो सिद्ध हुआ उसे आपश्री **तस्मात् श्रीकृष्णमार्गस्थ** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। श्रीकृष्णमार्गीय से आपश्री का तात्पर्य भक्तिमार्गीय है। **सर्वलोकतः** का अर्थ है- जीव को चाहिए कि संसार से विमुक्त होकर शुद्धपुष्टिमार्गीय व्रजसुन्दरियों के वृन्द में विहार करने वाले निरवधि आनन्दरूप श्रीकृष्ण का ही विशेषरूप से चिन्तन करे अर्थात् मानसी सिद्ध करने के लिए लीलाविशिष्टप्रभु की मन में भावना करनी चाहिए। प्रभुचरणों ने भी अपनी टीका में यही अर्थ 'कृष्ण पदात्' इन शब्दों से आरम्भ करके 'आत्मपदं भगवत्परं' इत्यादि शब्दों द्वारा विवृत किया है।

ननु ज्ञानरहितो भक्तो भगवद्दर्शनावरोधकसंसारस्य विद्यमानत्वादुःखी भवतीत्युक्तम् । तथा सति केवलज्ञानवत् तादृग्भक्तेरप्यप्रयोजकत्वमित्याशंक्य पूर्वोक्तमनूद्य केवलभजनेनापि निर्वाहमाहुः लोकार्थीति । लोकार्थी पशुपुत्रादिविषयकाङ्क्षावान् । अनुत्पन्नज्ञानः संसारीति यावत् । भजनं कुर्वन् पूर्वोक्तप्रकारेण दिदृक्षाधिक्याद्दर्शनाभावात्क्लिष्टो भवति। तादृगपि आग्रहं कृत्वा भजनं चेन्न त्यजति, तदा भगवत्कृपया लोकः संसारोऽहन्ताममतात्मको भगवत्साक्षात्कारप्रतिबन्धकर्ता नश्यतीत्यर्थः । अत्र प्रपञ्चवाचिना लोकशब्देन तदन्तःस्थितः संसारो लक्ष्यते । नाशस्योक्तत्वादर्थस्वारस्याच्च लक्ष्यार्थ एव ग्राह्यः ।

अब यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, ब्रह्मज्ञानरहित कृष्णभजन करने वाला संसारी भक्त भगवद्दर्शन में अवरोधक बनने वाले संसार के विद्यमान रहते दुःखी रहता है- यह बात आपने कही, किन्तु इसमें तो परिस्थिति यह बन गयी कि, जिस प्रकार भक्ति के बिना ज्ञानवान का केवल कोरा ज्ञान भगवद्दर्शन में अप्रयोजक सिद्ध होता है अर्थात् जिस प्रकार भक्ति के बिना केवल उसके कोरे ज्ञान से भगवद्दर्शन होने संभव नहीं बनते; ठीक उसी प्रकार संसारी भक्त की भक्ति भी ब्रह्मज्ञान के बिना अप्रयोजिका सिद्ध हो गयी ! (अर्थात् जिस प्रकार भक्ति के बिना मर्यादामार्गीयज्ञानी के कोरे ज्ञान से भगवद्दर्शन नहीं होते, उसी प्रकार कृष्णभजन करने वाले संसारी भक्त की भक्ति भी बिना ब्रह्मज्ञान के भगवद्दर्शन नहीं करा पायी, अर्थात् 'ज्ञान' की भाँति 'भक्ति' भी अप्रयोजिका सिद्ध हो गयी । इसलिए प्रश्न यह है कि फिर 'ज्ञान' और 'भक्ति' दोनों को एक समान कोटि में ही क्यों न मान लिया जाय ! भक्ति को ज्ञान से बढ़कर क्यों बताया जा रहा है !)तो आचार्यचरण **लोकार्थी** इत्यादि शब्दों से यह बता रहे हैं कि, भले ही ब्रह्मज्ञान न हुआ हो तथापि केवल भजन/भक्ति करने से भी निर्वाह हो सकता है। तात्पर्य यह कि भक्ति अप्रयोजिका नहीं है, भक्ति करनी व्यर्थ नहीं जाती और वो इसलिए क्योंकि सर्वप्रथम तो 'लोकार्थी' का तात्पर्य है- भगवद्भजन द्वारा पशु, पुत्र आदि विषयों की आकांक्षा रखने वाला, यानि जिसको ब्रह्मज्ञान(अक्षरब्रह्म का बोध)नहीं हुआ है ऐसा संसारीजीव, जो भगवद्भजन करते हुए पूर्व में कहे अनुसार भगवद्दर्शन की अधिक अभिलाषा के कारण दर्शन न होने से क्लेश पाता रहता है; आपश्री का कथन यह है कि, ऐसा संसारीजीव भी आग्रह रखते हुए यदि भगवद्भजन करना नहीं छोड़ता, तो फिर भगवत्कृपा से उसका लोक यानि

अहन्ताममतात्मक संसार, जो कि भगवत्साक्षात्कार होने में प्रतिबन्ध करता है, वह नष्ट हो जाता है- यह अर्थ है। यहाँ क' शब्द का अर्थ प्रपञ्च न लेकर प्रपञ्च में स्थित अहन्ताममतात्मक संसार लेना चाहिए, क्योंकि आचार्यचरणों ने तो क का नाश होना कहा है और हम भी जब एतन्मार्गीयदृष्टि से विचार करते हैं तो लोक का अर्थ प्रपञ्च न करके न्ताममतात्मक संसार करना ही अधिक उचित लगता है। **क्योंकि हमारे सिद्धान्तानुसार प्रपञ्च अक्षरब्रह्मात्मक है और य भी है इसलिए प्रपञ्च का नाश होना नहीं कहा जा सकता- यह अर्थ है।**

केवलया भक्त्या भगवद्भजनं निर्वहतीत्युक्तम् । तत्कथमित्याकाङ्क्षायां प्रमेयबलेन तद्भवतीति वदन्ति अनुग्रह इति । मार्गस्यानुग्रहैकनियम्यत्वात्प्रमाणविरुद्धमपि प्रमेयबलेन भवेत् । 'नेमं विरचो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया । प्रसादं भेरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदादि'त्यादिवाक्येभ्य इति भावः । पुष्टिमार्ग इति । पुष्टिजन्ये भक्तिमार्ग इत्यर्थः । पुष्टिश्च षणं तदनुग्रह' इति वाक्यादनुग्रहरूपो भगवद्धर्मः । स च लौकिकालौकिकोत्तमफलसाधकः । विशेषानुग्रहस्तु लजनविषयो भगवद्रूपात्मकफलसाधकः । तज्जन्यत्वं पुष्टिभक्तौ ।

प्रकार से आचार्यचरणों ने केवल भक्ति द्वारा भजन सिद्ध हो सकता है- यह बात कही। किन्तु यदि ये प्रश्न होता हो कि, ज्ञान के बिना केवल भक्ति से ही कैसे भगवद्भजन सिद्ध हो जायेगा ?(**भगवद्भजन सिद्ध होने का अर्थ है- निरन्तर वद्भजन होता रहना, प्रतिबन्ध न आना**) तो आचार्यचरण आगे **अनुग्रह** इत्यादि शब्दों से यह बता रहे हैं कि प्रमेयबल द्वारा बिना ब्रह्मज्ञान के भी भगवद्भजन सिद्ध हो जाता है। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, पुष्टिमार्ग का नियमन केवल भगवान के अनुग्रह से ही होता है अतः बात यदि प्रमाणविरुद्ध होती हो, तब भी केवल प्रमेयबल से सिद्ध हो जाती जैसा कि *"नेमं विरञ्चो न भवो न(श्री0भा-2/10/4)"* इस वाक्य में कहा गया है- यह भाव है। **पुष्टिमार्ग** का अर्थ है- वान की पुष्टि/कृपा से उत्पन्न हुआ भक्तिमार्ग। 'पुष्टि' तो *"पोषणं तदनुग्रहः(श्री0भा-2/10/4)"* इस वाक्यानुसार ग्रहरूप भगवान का धर्म है। और भगवान का अनुग्रह लौकिक-अलौकिक समस्त उत्तमफलों का साधक है। जबकि वान का विशेष-अनुग्रह तो विरलों को ही प्राप्त होता है जो कि सीधे भगवरूपात्मक फल को सिद्ध कराता है। पुष्टिभक्ति वान के ऐसे विशेष-अनुग्रह द्वारा उत्पन्न होती है।

पुष्टिशब्देन पुष्टिविशेषो ग्राह्यः, न तु साधारणानुग्रहः । तस्य लौकिकफलं प्रति कारणत्वात् । अत एव पुष्टिस्कन्धे धारणेनैव कृष्णानुग्रहेणेन्द्रादीनां दैत्यानां च तादृग्भक्तिरहितानामपि स्वाभिलषितलौकिकफलसिद्धिः । तथोक्तं निबन्धे मिन्द्रे महापुष्टिः सर्वबाधा निरूपिता । सर्वबाधकरूपा हि दैत्ये पुष्टिरथोच्यत' इति । इन्द्रे महापुष्टिरित्यत्रानुग्रहे महत्त्वं तु वत्प्रतिबन्धनिवृत्त्या मनोरथपूरकत्वं, न तु भक्तितत्सम्बन्धिसाधकत्वम् । लौकिकफलस्यैव दृश्यमानत्वात् । अतः धारणानुग्रहो लौकिकफलसाधकः । विशेषानुग्रहस्तादृग्भक्तिहेतुरिति निष्कर्षः । सा च मस्कन्धसूर्यसोमवंशीयवृत्तान्तकथनेन प्रपञ्चिता, मर्यादापुष्टिभेदेनेशानुकथाशब्देन व्यवह्रियते । ईशस्य अनुगामिनां कानां कथा भक्तिरित्यर्थः । पुष्टिजन्या भक्तिः पुष्टिभक्तिः । अत एवोक्तं श्रीमत्प्रभुचरणैः 'तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिं च नुम' भक्तिहेतुनिर्णये । एवं सति भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलाकाङ्क्षारहिता भक्तिः पुष्टिभक्तिरिति पुष्टिभक्तेर्लक्षणं ज्ञेयम् ।

ाँ 'पुष्टिमार्ग' शब्द में विशेषपुष्टि समझनी चाहिए, साधारण अनुग्रह नहीं। क्योंकि भगवान के साधारण अनुग्रह द्वारा तो किकफल सिद्ध हुआ करते हैं, जबकि यहाँ तो भगवद्रूप के दर्शन की बात हो रही है। इसी कारण श्रीभागवत पुष्टिस्कन्ध पुष्टिभक्तिरहित इन्द्र आदि को एवं दैत्यों को भी जो मनोभिलषित लौकिकफल प्राप्त हुए हैं, वे भगवानकृष्ण के साधारण ग्रह द्वारा ही प्राप्त हुए हैं। यही बात निबन्ध में भी आचार्यचरणों ने *"एवमिन्द्रे महापुष्टिः सर्वबाधा रूपिता(भा0निबन्ध-6 स्कन्ध,कारिका-91)"* इस कारिका द्वारा कही है। आपश्री के इस वाक्य में '*इन्द्र पर महापुष्टि हुई*' पंक्ति का अर्थ विशेष अनुग्रह वाली पुष्टि नहीं समझ लेना चाहिए, क्योंकि यहाँ महापुष्टि से आपश्री का तात्पर्य- भगवान इन्द्र के राज्य में आनेवाले जो बलवान प्रतिबन्धक थे, उनकी निवृत्ति कराके जो इन्द्र को राज्य दिलवा कर इन्द्र के ोरथों की पूर्ति की थी- उससे है, भक्ति या भक्ति से सम्बन्धित पुष्टि नहीं। क्योंकि इन्द्र को जो फल मिला वह तो किकफल ही मिला था, इसलिए वहाँ महापुष्टि का तात्पर्य विशेष अनुग्रह वाली पुष्टि नहीं हो सकता।

ः इस पूरे विवेचन का तात्पर्य यह निकलता है कि, भगवान के साधारण अनुग्रह से तो लौकिकफल सिद्ध होते हैं और शेष अनुग्रह तो भगवद्रूपात्मक फल को साधने वाली भक्ति प्राप्त करने में कारण होता है- यह निष्कर्ष है। विशेष अनुग्रह

वाली पुष्टिभक्ति इन्द्र के प्रसंग में तो नहीं कही गयी अपितु नवमस्कन्ध में सूर्यसोमवंश का वृत्तांत बताने के सन्दर्भ में मर्यादा-पुष्टि का भेद करके ईशानुकथा शब्द द्वारा विस्तार से बतायी गयी है। ईश्वर की एवं उनके अनुगामी/भक्तों की कथा ईशानुकथा कही जाती है; जबकि पुष्टि/अनुग्रह से उत्पन्न होने वाली भक्ति 'पुष्टिभक्ति' कहलाती है। इसी कारण प्रभुचरणों ने भक्तिहेतुनिर्णय में मंगलाचरण करते हुए *"केवल भगवान के अनुग्रह से प्राप्त होने वाली भक्ति को नमस्कार है(1)"* यों कहा है। इन समस्त विवेचनों से यह सिद्ध होता है कि, भगवत्स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु आकांक्षा न रखते हुए की जाने वाली भक्ति 'पुष्टिभक्ति' कहलाती है- यह पुष्टिभक्ति का लक्षण जानना चाहिए।

न च निष्काममर्यादाभक्तावतिव्याप्तिः । अत्र मोक्षात्मकफलस्याकाङ्क्षितत्वात् । न च मोक्षः स्वरूपात्मक एवेति वाच्यम् । 'न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे' इति वृत्रवाक्ये स्वरूपातिरेककथनात् । अत एव पुष्टिमार्गीया नैनं कामयन्ते । एतच्च 'अक्षण्वतामि'ति श्लोकविवृतौ, 'वीक्ष्यालकावृतमुखमि'त्यस्य सुबोधिन्यां स्पष्टम् । अत एव मोक्षकामनापि काम्यमध्ये विमृष्टा । तथोक्तं निबन्धे 'तप्तमुद्राधारणं काम्यम् । हरिसालोक्यकाम्ययेति वाक्यादि'ति । अतः स्वरूपातिरिक्तफलाकाङ्क्षारहिताः पुष्टिभक्ता एवेति सुधीभिर्विभावनीयम् ।।२१।।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि, तब तो निष्कामभाव से की जाने वाली मर्यादाभक्ति भी पुष्टिभक्ति ही कहलायेगी ! नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि मर्यादामार्गीयभक्ति में तो भक्त को मोक्ष प्राप्त करने की आकांक्षा रहती है। [किन्तु, इसमें कोई पूर्वपक्षी कहता है कि, मोक्ष भी तो भगवत्स्वरूपात्मक है ! अतः यदि मर्यादामार्गी ने मोक्ष की भी कामना की हो, तो इससे क्या अंतर पड़ा, इसे भी निष्कामभक्ति क्यों न मान लिया जाय !!] नहीं, ऐसा नहीं है क्योंकि *'न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा(श्री0भा-6/11/25)'* इस वृत्रवाक्य में मोक्ष को भगवान के स्वरूप से अलग बताया गया है। इसीलिए जो पुष्टिमार्गीय होते हैं, वे मोक्ष की कामना नहीं करते। और यह बात *'अक्षण्वतां(श्री0भा-10/21/7)'* इस श्लोक की विवृति में और *'वीक्ष्यालकावृतमुखम्(श्री0भा-10/26/39)'* इस श्लोक की सुबोधिनी में स्पष्ट की गयी है। इस कारण मोक्षकामना को भी काम्य के अंतर्गत गिना गया है, निष्कामभक्ति के अंतर्गत नहीं। यही बात आचार्यचरणों ने निबन्ध में *'तप्तमुद्राधारणं काम्यम्'* इस कारिका द्वारा कही है। अतः भगवत्स्वरूप के अतिरिक्त किसी भी फल की आकांक्षा न रखने वाले तो पुष्टिभक्त ही होते हैं- इस बात का विचार विद्वानों को करना चाहिए ॥21॥

यदुक्तं श्रीमदाचार्यैर्विवृतं विट्ठलेश्वरैः । कृतं तदनुसार्येतद्वालकृष्णाङ्घ्रिसेविना ।।१।।
यदत्र बुद्धिदोषेण चेष्टितं बालचापलम् । क्षम्यतां श्रीमदाचार्यचरणैः कृपया मयि ।।२।।
श्रुतिसिद्धरसात्मत्वकृष्णप्रेमप्रकाशकाः । दासे मयि प्रसीदन्तु प्रभवो विट्ठलेश्वराः ।।३।।
कालिन्दीपुलिने शरच्छशिकरैः शुभ्रीकृते मल्लिकाकुन्दामोदमदोन्मदालिनिनादे घोषाङ्गनाभूषिते । रासे राधिकया समं विहरतो मोदैर्मुहुर्नृत्यतः श्रीगोवर्धनधारिणो भगवतः सेवेय पादद्वयम् ।।४।।
यश्चिन्त्यो ब्रह्मरुद्राद्यैर्बल्लवीजनचिन्तकः । अस्मत्कुलपतिः श्रीमद्बालकृष्णः प्रसीदतु ।।५।।

इति श्रीमद्गोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यवरश्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामविदितबालकृष्णेन विरचिता सिद्धान्तमुक्तावलीयोजना सम्पूर्णा ।

श्रीमदाचार्यचरणों ने एवं श्रीविट्ठलेश्वर ने जो कहा, उसके अनुसार इस बालकृष्णचरणों के सेवक ने विवृति की है॥1॥
यदि इसमें बुद्धिदोष के कारण कुछ बालचपलता कर दी हो, तो आचार्यचरण मुझे क्षमा करें ॥2॥
श्रुतिसिद्ध रसात्मक कृष्णप्रेम के प्रकाशक प्रभुविट्ठलेश्वर मुझ दास पर प्रसन्न हों ॥3॥
कालिन्दी के तट पर शरद् की चंद्रकिरणों द्वारा उज्जवल, मल्लिका-कुन्द की सुगंध द्वारा मदमत्त हुए भौरों का गुँजन हो रहा हो, ऐसे व्रजसुन्दरियों से भूषित रास में राधा के संग विहार करते हुए आनन्द में भरकर वारंवार नृत्य करते हुए श्रीगोवर्धनधारी भगवान के चरणकमलों की मैं सेवा करता हूँ ॥4॥
ब्रह्मरुद्र आदि जिनका चिन्तन करते हैं और स्वयं जो व्रजगोपिकाओं का चिन्तन करता है, ऐसे हमारे कुलपति श्रीमद्बालकृष्ण मुझ पर प्रसन्न हों ॥5॥

यह श्रीमद्गोवर्धनधर श्रीवल्लभाचार्यवर श्रीविट्ठलेश्चरणों के अनुचरों के सेवक लालूभट्ट के उपनाम से जाने जाते बालकृष्ण ने सिद्धान्तमुक्तावली की योजना सम्पूर्ण हुई।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

सिद्धान्तमुक्तावली ।

परिशिष्टम् ।

श्रीकृष्णाय नमः । श्रीगोपीजनवल्लभाचार्यवर्यचरणपाथोजनितयुगलाय नमः । श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः । श्रीमदाचार्यवर्यश्रीविट्ठलेशैः प्रचोदितः । कुरुते मथुरानाथगोस्वामितनयोऽद्भुतां । श्रीमदाचार्यसिद्धान्तमुक्तावल्या विवेचने । टिप्पण्या विवृतिं दासो द्वारिकेशः सविस्तरम् । अथ श्रीमद्गोकुलनाथाः श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितां सिद्धान्तमुक्तावल्या विवृतिं विवरीतुं निर्विघ्नतायै प्रार्थनात्मकं मङ्गलमाचरन्ति 'यद्वाञ्छये'ति । यस्य श्रीमद्विट्ठलेश्वरपादरजसो वाञ्छया प्राप्तिमनोरथेन पुंसः अर्थाः प्रयोजनाः जन्मप्रभृतियावत्कृतिविषयाः धर्मादयो भक्त्यन्ता वा मोक्षान्ता इति व्युच्चरणमारभ्य अक्षरप्रवेशपर्यन्तं यावज्जन्मकृताः अधरीकृताः हस्तागता भवन्ति सः कोपि अनिर्वचनीयः पितृपद्रेणुः मह्यं श्रीगोकुलनाथाय प्रसीदतु प्रसन्नो भवतु, तत्प्रसादं विना तद्वाण्यभिप्रायो हृदये न समायाति, यतः अतः प्रार्थ्यते । स इति पितृपद्रेणोः परोक्षत्वकथनेन श्रीमद्गोस्वामिनां कन्दराप्रवेशानन्तरं टिप्पणी कृतेति ।

परिशिष्टम्

श्रीकृष्णाय नमः। श्रीगोपीजनवल्लभ-आचार्यवर्यचरणकमलयुगलों को नमन। श्रीगोपीजनवल्लभ को नमन।
श्रीमदाचार्य एवं श्रीविट्ठलेश की प्रेरणा से सिद्धान्तमुक्तावली की विवेचना पर की गयी टिप्पणी की
मथुरानाथगोस्वामी का पुत्र मैं द्वारिकेश विस्तारसहित अद्भुत विवृति कर रहा हूँ।

श्रीगोकुलनाथचरणों ने श्रीमद्विट्ठलेश्वर द्वारा विरचित सिद्धान्तमुक्तावली की विवृति का विवरण करने के हेतु से यह कार्य निर्विघ्नतापूर्वक संपन्न हो जाय तदर्थ प्रार्थनात्मक मंगलाचरण **यद्वाञ्छया** इत्यादि पदों से किया है। आपश्री के मंगलाचरण का तात्पर्य है- जिन श्रीविट्ठलेश्वर के चरणकमल की रज की वाञ्छा से यानि उसे प्राप्त करने के मनोरथ द्वारा *पुरुष जिनकी कामना करता है ऐसे सारे प्रयोजन, अर्थात् जन्म से लेकर धर्म आदि भक्ति आदि तक के या मोक्ष तक के जितने भी पुरुषार्थ हैं वे सभी; यानि कि ब्रह्म से निकलने के पश्चात् अक्षरब्रह्म में प्रवेश करने तक जितने भी जन्म लिए और उन जन्मों में जितने भी पुरुषार्थ प्राप्त किए जाते हैं,* वे भी सभी पुरुषार्थ तुच्छ बना दिए जाते हैं या वे सभी पुरुषार्थ मानों हस्तगत हो जाते हैं, ऐसी विशिष्टप्रकारक अनिर्वचनीय पितृचरणों की रेणु मुझ श्रीगोकुलनाथ पर प्रसन्न हो; चूँकि पितृचरणों की प्रसन्नता के बिना उनकी वाणी का अभिप्राय हृदयारूढ नहीं हो सकता, इसलिए श्रीगोकुलनाथचरणों ने इसप्रकारक प्रार्थना की है। आपश्री ने **स** शब्द का प्रयोग किया है, जिससे ज्ञात होता है कि आपश्री ने श्रीप्रभुचरणों के परोक्ष में यह विवृति लिखी है, अतः इसका अर्थ यह है कि कदाचित् आपश्री ने श्रीप्रभुचरणों के कन्दराप्रवेश कर जाने के पश्चात् यह टिप्पणी लिखी होगी।

अथ श्रीमद्वल्लभनन्दनाः सिद्धान्तमुक्तावलीं विवरिषवः श्रीमदाचार्यचरणाब्जपरागनमनात्मकं मंगलं विधाय ग्रन्थविवरणं प्रतिजानते प्रणम्येति । पितुः श्रीमदाचार्यस्य पादयोः अब्जयोः परागाब्जरेणुर्मह्यं प्रसीदतु अनुरागतः प्रकर्षेण नत्वा तत्कृपया तद् वांगमुक्तावलीं विशदीकुर्मः । नमने प्रकर्षः भूमिपर्यन्तं साष्टाङ्गप्रणामः पितुः पालनकर्त्तुः रूढ्या । श्रीमदाचार्यस्य पादयोरब्जयोर्निजभक्ततापहारकानन्ददायकयोर्यत् परागं रजः

श्रीवल्लभनन्दन श्रीप्रभुचरणों ने सिद्धान्तमुक्तावली का विवेचन करने की इच्छा से श्रीमदाचार्यचरणकमलपराग के लिए नमनात्मक मंगलाचरण करके ग्रन्थ का विवरण करने की प्रतिज्ञा **प्रणम्य** इत्यादि शब्दों से की है। इस मंगलाचरण से आपश्री का तात्पर्य यह है कि- पिता श्रीमदाचार्य के चरणकमलों का पराग यानि कि चरणरेणु मुझ पर प्रसन्न होवे; उस रेणु को अनुरागपूर्वक प्रकर्षरूप से नमन करके उनकी ही कृपा से उनकी वांगमुक्तावली की विवेचना आपश्री कर रहे हैं।

आपश्री ने प्रकर्षरूप से नमन करना कहा है, जिसका अर्थ भूमिपर्यन्त साष्टांगप्रणाम करना है, जिस प्रकार कि पालनकर्ता-पिता को नमन करने की रूढि है। आपश्री के मंगलाचरण का संपूर्ण अर्थ यह कि- निजभक्तों के तापहारक एवं आनन्ददायक श्रीमदाचार्य के चरणकमलों का जो पराग है अर्थात् चरणरज है, उसे अनुरागपूर्वक नमन करके लिख रहे हैं।

अनुरागः अनुरागश्च रागेण पूर्वं भगवता वरणे कृते तं अनुलक्षीकृत्य जायमानभक्त्या तत्कृपया श्रीमदाचार्यवाग्रूपां मुक्ताफलानामावलीं विशदीकुर्मो, धारणयोग्यां कुर्मो, मुक्तानां वर्तुलत्वेन दोरके प्रवणं विना तेषां वलेर्विशदीकरणं न संभवति यतः । अत एव समाप्तौ वक्ष्यन्ति 'श्रीविट्ठलस्तद् वाङ्मालां हृदये दधौ' इति । अथ सा माला कालबाहुल्येन मलिना शिथिला च जातेति तद्गुरुजलादिनोज्ज्वलां कृत्वा धारणयोग्यां कर्तुं प्रकाशोद्यमः तत्र साधनं तेषां कृपा ।

'अनुराग' का अर्थ होता है- पश्चात् राग/प्रेम होना, यानि बाद में प्रेम होना; इसका तात्पर्य यह है कि पहले तो रागपूर्वक भगवान ने वरण किया और जब भगवान ने हमारा वरण कर लिया तत्पश्चात् अपने प्रति भगवान के राग को देखकर जब हमारे हृदय में भी भक्ति उत्पन्न हो गयी; तब इस प्रकार उत्पन्न हुई भक्ति के द्वारा भगवत्कृपा से श्रीमदाचार्यचरणों की वाणीरूपा मोतियों की माला का विवेचन श्रीविट्ठलेशप्रभु कर रहे हैं, यानि कि उसे धारण करने योग्य बना रहे हैं, चूँकि मोती गोल होते हैं अतः जब तक उन्हें एक धागे में न पिरो दिया जाय, तब तक उनको धारण करना संभव नहीं बनता। इसी कारण अपनी टिप्पणी की समाप्ति में श्रीविट्ठलेश्वर अपनी टिप्पणी के अंत में "*मैंने आचार्यचरणों की वाणीरूपा माला हृदय में धारण की*" यों कहेंगे। यह माला अधिक काल व्यतीत हो जाने के कारण मैली एवं शिथिल हो गयी थी, इसलिए पर्याप्त जल द्वारा उसे उज्ज्वल करके धारण करने योग्य बनाने के लिए उसे प्रकाशित करने के लिए ही श्रीप्रभुचरणों ने यह उद्यम किया है और इसमें साधन तो श्रीमदाचार्यचरणों की कृपा है।

अथ श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाः स्वीयानां स्वकीयसिद्धान्ताज्ञानजन्यतापं निवारयितुं नमनात्मकं मंगलं विधाय स्वकीयसिद्धान्तविनिश्चयं प्रतिजानते । नत्वेति । स्मर्तॄणामखिलाघहरं श्रीहरिं श्रीकृष्णं नत्वा, णम प्रह्वत्वे शब्दे चेत्यनुशासनात् । अग्रे वक्ष्यमाणैर्बहुभिर्मिथोविरुद्धैः सिद्धान्तैः शास्त्रार्थसंदेहे तन्निरासाय स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थनिश्चयं वक्ष्यामि – श्रीगोकुलाधीशाः प्रतीकमाहुरग्रे इति । सिद्धान्तमुक्तावल्यां चतुर्थश्लोके ।

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणों ने स्वीयजनों के अपने सिद्धान्त को न जान पाने के कारण हुए ताप का निवारण करने के लिए प्रभु को नमनात्मक मंगलाचरण करके अपना भलीभाँति निश्चित किया हुआ सिद्धान्त बताने की प्रतिज्ञा **नत्वा** इत्यादि शब्दों से की है। आपश्री के मंगलाचरण का अर्थ है- स्मरण करने वालों के समस्त पापों को नष्ट कर देने वाले हरि-श्रीकृष्ण को नमन करके ग्रन्थ का आरम्भ कर रहे हैं, क्योंकि **नत्वा** पद की णम धातु 'प्रह्वत्व(झुकना या नमन करना)' और 'शब्द' दोनों अर्थों में प्रयुक्त होती है। जबकि श्रीप्रभुचरणों द्वारा लिखी **अग्रे वक्ष्यमाणैः………… शास्त्रार्थनिश्चयं वक्ष्यामि** इस पंक्ति में से श्रीगोकुलाधीश ने **अग्रे** यह प्रतीक लेकर अपना व्याख्यान आरम्भ किया है। **अग्रे** का अर्थ है- इस ग्रन्थ के चौथे श्लोक में कहे विविध वादों में परस्पर रहे विरोध को मिटाने के लिए आचार्यचरण अपना सिद्धान्त इस ग्रन्थ में बता रहे हैं ।

अथ प्रभवः प्रतीकमाहुः स्वसिद्धान्तेति । अग्रे वक्ष्यमाणैरिति । मायिकं सगुणमित्यादिभिरित्यर्थः । तत्र परस्परविरोधस्य स्पष्टत्वात् साक्षाच्छ्रुतिनिरूपितं वक्ष्यामीति विशब्दार्थः । तस्यैव स्वकीयत्वज्ञापनाय स्वपदं,

प्रभुचरणों ने आचार्यचरणों की कारिका में **स्वसिद्धान्त** इस प्रतीक को लेकर इसका **अग्रे वक्ष्यमाणैः** इन शब्दों द्वारा व्याख्यान किया है, जिसका तात्पर्य है- ग्रन्थ में आगे कहे गए **मायिकं सगुणं** इत्यादि सिद्धान्तों के कारण शास्त्र का वास्तविक अर्थ करने में सन्देह होता है। चूँकि इन सभी मतों में विरोध तो स्पष्ट दिखाई देता है अतः आचार्यचरणों ने "*साक्षात् श्रुति ने जो सिद्धान्त निरूपित किया है, हम वो सिद्धान्त कहेंगे*" यों कहा है और यही **विनिश्चयम्** में 'वि' शब्द का अर्थ है। और श्रुति द्वारा निरूपित हुआ सिद्धान्त ही आपश्री का सिद्धान्त है, यह बताने के लिए आपश्री ने **स्व** पद का प्रयोग किया है(अर्थात् श्रुतियों द्वारा जो सिद्धान्त निरूपित हुआ है, उसी सिद्धान्त का भलीभाँति निश्चय करने के पश्चात् उसी सिद्धान्त को आचार्यचरणों ने ग्रहण किया है और उसे ही अपना सिद्धान्त बनाया है- इस आशय से आपश्री ने 'सिद्धान्त' पद में 'स्व' पद जोड़कर कहा है)।

साक्षाच्छ्रुतिरिति । ननु श्रुतौ सेवाप्रकारः कुत्रोक्त इति चेच्छृणु । 'भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

स्थैरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः' । कर्णेभिरिति वैदिकपदोक्त्या कर्णानां दिव्यत्वं बहुवचनेन 'विधत्स्व कर्णायुतमेष' इति प्रार्थनया प्राप्तत्वं भद्रं स्वं स्वं रवं श्रृणुयाम, ततो जागरणानन्तरं भद्रं भगवद्रूपं पश्येम, अक्षभिः अलौकिकनेत्रैः, भो यजत्राः सेवाकर्तारः ततो नीरांजनसमये तनूभिः कोमलैः स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसः यदायुस्तदेव हितं भगवदर्थं व्यशेम समर्पयावः, यावज्जीवं सेवां कुर्मः इत्यादिभिः सर्वोपि षड्ऋतुसेवाप्रकार उक्तः । स एव श्रीमदाचार्याणां सिद्धान्तविनिश्चयः श्रुत्यर्थानन्दसंदोहः श्रीव्रजाभरणदीक्षितैः कृतः । तत्र सेवाप्रकारो विस्तरेण विवृतः ।

अब हम श्रीगोकुलनाथचरणों द्वारा कहे **साक्षाच्छ्रुतिनिरूपितं** इत्यादि पदों की व्याख्या कर रहे हैं। आपश्री ने आचार्यचरणों द्वारा कहे कृष्णसेवा के सिद्धान्त को श्रुति द्वारा निरूपित हुआ सिद्धान्त तो कह दिया, परन्तु, यदि किसी को यह प्रश्न होता हो कि, श्रुति में सेवाप्रकार कहाँ/कैसा बताया गया है, तो सुनिए। *"भद्रं कर्णेभिः.........यदायुः(ऋग्वेद- मंडल 1, सूक्त 89, मन्त्र 8)(भावार्थ= हे देववृंद, हम अपने कानों से कल्याणमय वचन सुनें। जो याज्ञिक अनुष्ठानों के योग्य हैं (यजत्राः) ऐसे हे देवो, हम अपनी आंखों से मंगलमय घटित होते देखें। नीरोग इंद्रियों एवं स्वस्थ देह के माध्यम से आपकी स्तुति करते हुए (तुष्टुवांसः) हम प्रजापति ब्रह्मा द्वारा हमारे हितार्थ (देवहितं) सौ वर्ष अथवा उससे भी अधिक जो आयु नियत कर रखी है उसे प्राप्त करें (व्यशेम)। तात्पर्य है कि हमारे शरीर के सभी अंग और इंद्रियां स्वस्थ एवं क्रियाशील बने रहें और हम सौ या उससे अधिक लंबी आयु पावें)"* इस श्रुति में चूँकि 'कर्णेभिः' यह बहुवचन का पद पाणिनि व्याकरण से तो सिद्ध नहीं होता अतः यह वैदिकप्रयोग है और वैदिकप्रयोग हुआ होने के कारण यहाँ जिन कर्णों की चर्चा है, वह दिव्यकर्णों की चर्चा है- यह जानना चाहिए, अर्थात् यदि इस श्रुति में लौकिककर्णों की बात होती,तो 'कर्णेभिः' पद व्याकरण से सिद्ध होता। यदि व्याकरण की दृष्टि से यह साधुप्रयोग नहीं है, तो यह मानना चाहिए कि यहाँ जिन कर्णों की चर्चा की गयी है, वे अलौकिककर्ण हैं। और 'कर्णेभिः' इस वैदिकपद के द्वारा कर्णों की दिव्यता एवं अनेकता *"विधत्स्व कर्णायुतमेष"* इस भागवतश्लोक में की गयी प्रार्थना द्वारा सिद्ध होती है,(यहाँ पृथु द्वारा दस हजार कर्णों की प्रार्थना करने का तात्पर्य भी अलौकिककर्णों से ही है। पृथु यह प्रार्थना कर रहे हैं, कि हमें ऐसे दिव्य कर्ण दीजिए जिनमें दस हजार कर्णों जितनी शक्ति हो और ऐसे अलौकिककर्णों से आपका नाद सुन सकूँ)अतः श्रुति का अर्थ हुआ- *हम ऐसे दिव्य कर्णों द्वारा कल्याणकारी नाद को सुन पाएँ। फिर जागने के पश्चात् अलौकिकनेत्रों द्वारा कल्याणकारी भगवद्रूप को देखें। हे सेवाकर्ता ! इसके पश्चात् आरती के समय अपने कोमल अंगों के द्वारा भगवान को प्रसन्न करने वाली अपनी आयु को यानि कि अपने जीवन को भगवान को ही समर्पित करें, अर्थात् जीवनपर्यन्त भगवत्सेवा करें-* इत्यादि वचनों द्वारा श्रुतियों ने भी षड्ऋतुसेवा का पूरा प्रकार बताया है। श्रीमदाचार्यों के इसी सिद्धान्त का विनिश्चय श्रीव्रजाभरणदीक्षित ने 'श्रुत्यर्थानन्दसन्दोह' नामक ग्रन्थ में किया है। इस ग्रन्थ में उन्होंने भगवत्सेवाप्रकार का विस्तार से विवरण किया है।

प्रकृतमनुसरामः । टीकायां कर्मणीति यथा 'अनुदिते सूर्ये जुहोति', 'उपस्थायार्कमुद्यन्त'मित्यादि तथा सेवायां नास्ति, अत्र तु 'किमपि क्वाप्युपाहर्तुमिच्छत्यद्धा तद्गोपिकेश' इति स्वेनैवोक्तम् ।

अब प्रकृतविषय की चर्चा करें। प्रभुचरणों की टीका में **अतएव न कर्मणीव कालपरिच्छेदोस्ति** इस पंक्ति का अर्थ यह है कि- जिस प्रकार कर्ममार्ग में 'अनुदिते सूर्ये जुहोति', 'उपस्थायार्कमुद्यन्तम्' इत्यादि वाक्यों में विशेष समय आने पर ही अमुक कर्मों को करने का विधान किया गया है, तो ऐसा अनिवार्य नियम भगवत्सेवा में नहीं है; यहाँ पुष्टिमार्ग में तो *"हे अग्निस्वरूप आचार्यचरण ! इस मार्ग में तो कुछ भी, किसी भी प्रकार से, किसी भी स्थल पर यदि भगवान को समर्पण किया जाता है, तो उसे गोपिकेश-प्रभु प्रसन्नमुख होकर स्वीकार करते हैं(वल्लभाष्टकम्-4)"* यह श्लोक स्वयं प्रभुचरणों ने ही कहा है।

'ण्य आवश्यके' इति सूत्रात् यद्यपि मानसी सेवा न जीवकृतिसाध्या, यथा तत्फलं अलौकिकसामर्थ्यं भगवता दाने कृते सिध्यति, तथापि मूले कार्येति विधिवाक्येन टीकायां अकरणे प्रत्यवायीभवतीति विवरणेन च श्रीमदाचार्यगोस्वामिभ्यां स्वशरणगतेभ्यो वरत्वेन दत्तेति मम प्रतिभाति, मूले कृष्णसेवेति कृष्णसेवयोः समासेन कार्यकारणान्नित्यसंबंधः सूचितः । श्लोकान्वयस्तु अहं श्रीमदाचार्यः हरिं नत्वा स्वसिद्धान्तविनिश्चयं प्रवक्ष्यामि किं च तत् कृष्णसेवा सदा कार्या, तेन यथा कृष्णः फलात्मा, तथा कृष्णसेवापि फलात्मिका ।

'ण्य आवश्यके' इस सूत्र के अनुसार आचार्यचरणों ने भगवत्सेवा के लिए 'कार्या' पद का प्रयोग करके उसे करना

आवश्यक तो बता दिया परन्तु मानसीसेवा जीव से साध्य नहीं है और मानसीसेवा का फल अलौकिकसामर्थ्य भी जब भगवान दान करें तब ही सिद्ध हो सकता है, तथापि, मूलग्रन्थ में आचार्यचरणों ने सेवा के लिए 'कार्या' यह विधिवाक्य दिया है एवं इसकी टीका के विवरण में चूँकि प्रभुचरणों ने यह कहा है कि यदि सेवा नहीं करेंगे तो दोष लगेगा, अतः इन सभी कारणों से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि, श्रीमदाचार्यचरण एवं गोस्वामिश्रीप्रभुचरणों ने अपने शरणागतजीवों को सेवा करनी वरदान के रूप में दी है और इसी कारण वे सेवा कर पाते हैं। मूलग्रन्थ में भी 'कृष्णसेवा' यों इस प्रकार 'कृष्ण' एवं 'सेवा' इन दोनों पदों की समास करके आचार्यचरणों ने प्रयोग किया है अतः इससे ज्ञात होता है कि,'कृष्ण' और 'सेवा' में नित्यसम्बन्ध होना सूचित किया है। पूरे श्लोक का अन्वय इस प्रकार से है- "*मैं(श्रीमदाचार्यचरण) हरि को नमन करके भलीभाँति निश्चित किया हुआ अपना सिद्धान्त कह रहा हूँ, और वो यह है कि कृष्णसेवा सदा करनी चाहिए*"। इस कथन के द्वारा आपश्री ने यह बताया है कि, जिस प्रकार कृष्ण फलात्मा हैं, उसी प्रकार कृष्णसेवा भी फलात्मिका है।

प्रतीकमवतारयन्ति प्रभवः एतदेवेति । एतदिति यदेकादशे श्रीकृष्णेनोद्धवं प्रति द्वादशाध्याये 'रामेण सार्धमि'ति संदर्भे उक्तम्, प्रुङ्गतौ, प्रवणं गमनं तस्मिन् प्रवणं तत्प्रवणं चेतसः तत्प्रवणं तदेव सेवास्वरूपं, चेत इति, चेतस्तत्प्रवणे यथा मणिच्छिद्रे दोरकस्य प्रवणं तथा भगवदीयचेतसो भगवति तत्प्रसादोत्पादनानुकूलव्यापारे वा प्रवणं यथा स स्वाधीनो भवेत्तथा करणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजास्ति, ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनं च भवतः, ... विवक्ष्यामि त्वं मे भक्तः सुहृत् सखेति दुर्लभत्वं प्रतिज्ञाय द्वितीयपादविवरणमवतारयन्ति श्रीगोकुलनाथा मानथायत्वं ? । यद्वा फलमत उपपत्तेरित्यारभ्य भाष्यकर्तृत्वेनाचार्यत्वं, अत एवास्मिन् मार्गे आचार्यद्वयम्,

सेवा के विषय में ही समझाने के लिए प्रभुचरणों ने दूसरे श्लोक का विवेचन **एतदेव** इत्यादि पदों से किया है। **एतदेव सेवास्वरूपं** इस पंक्ति से आपश्री का अभिप्राय यह है कि, जो एकादशस्कन्ध के बारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने उद्धवजी के प्रति *"रामेण सार्धं(श्री0भा-11/12/10)"* इस श्लोक के संदर्भ में कहा था, वह एतन्मार्गीय सेवा का स्वरूप है। **प्रवण** शब्द का अर्थ होता है- गमन, यानि किसी में प्रविष्ट हो जाना। **चेतस्तत्प्रवणं** का अर्थ हुआ- चित का भगवान में चला जाना; और यही सेवा का स्वरूप है। जिस प्रकार मणि के छिद्रों में धागा पिरो दिया जाता है, उस प्रकार से भगवदीयों का चित्त भगवान में या उन्हें प्रसन्न करने की अनुकूल क्रियाओं में पिरो दिए जाने को सेवा कहा जाता है, जिससे कि भगवान अपने अधीन हो जाएँ उस प्रकार से सेवा करनी, जिसको सिद्ध करने के लिए आचार्यचरणों ने तनुवित्तजा सेवा करनी कही है। तनुवित्तजासेवा द्वारा संसारदुःख की निवृत्ति और ब्रह्मबोधन होता है। .... **यहाँ से मूलग्रन्थ की पंक्ति व्यवस्थित प्राप्त नहीं होती-अनुवादक**। अथवा *'फलमत उपपत्तेः(ब्र0सू-3/2/38)'* इस सूत्र से लेकर भाष्य किया होने के कारण श्रीप्रभुचरणों में भी आचार्यत्व आ गया, अतएव इस मार्ग में दो आचार्य हैं, यह सिद्ध होता है।

उत्तरार्धमवतारयन्ति प्रभवः एतादृशस्येत्यादि, टीकायां समस्तपदमिति तनुवित्तजेति समस्तं । तनुश्च वित्तं च तनुवित्ते ताभ्यां जाता कृता स्वतः प्रादुर्भूता वा तनुवित्तजा ।

प्रथमश्लोक के उत्तरार्ध का विवेचन प्रभुचरणों ने **एतादृशस्य** इस पंक्ति द्वारा किया है। आगे टीका में आपश्री ने जो **समस्तं पदं** लिखा है, उससे आपश्री का तात्पर्य 'तनुवित्तजा' इस समस्तपद से है।**(आगे टीकाकार ने तनुवित्तजासेवा का दो प्रकार से अर्थ किया है। इनमें से पहले प्रकार में तो टीकाकार ने तनुवित्तजा ही अर्थ किया है परन्तु दूसरे प्रकार में तनुवित्तजासेवा का अर्थ मानसीसेवा बताया है)**।(1) 'तनु' और 'वित्त' मिलाकर 'तनुवित्त' शब्द बना और तनु एवं वित्त द्वारा होने वाली सेवा को तनुवित्तजासेवा कहा जाता है, अथवा तो (2)तनुवित्त द्वारा स्वयं अपने आप उत्पन्न हो जाने वाली मानसीसेवा को तनुवित्तजासेवा कहा जाता है, यानि तनु और वित्त द्वारा सेवा करने के द्वारा उत्पन्न होने वाली सेवा को मानसीसेवा कहते हैं।

द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् तनुजा वित्तजा च, तत्सिद्धौ, ते इति संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मबोधनं, वस्तुस्वभावादिति मानसीपूर्वरूपवस्तुस्वभावात्, मानसीसेवासिद्ध्यै तनुवित्तजा, सृष्टिः दैवी आसुरी च 'पुष्टिं कायेने'ति वाक्याद् दैवी तनुजा, वित्तं माया तदुद्भूता आसुरी, उभे मानसी सेवार्थके दैवी सेवा कर्त्री, द्वितीया तद्रूपज्ञापिका ।

'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते(द्वन्द्वसमास के अंत में प्रयुक्त हुआ पद उसके आगे के सभी पदों से जुडता है)' इस नियमानुसार 'तनुवित्तजा' पद का अर्थ होगा- तनुजा और वित्तजा। तनुवित्तजासेवा सिद्ध हो जाने पर ते अर्थात्

संसार की निवृत्ति' होती है एवं 'ब्रह्मबोधन' होता है। **वस्तुस्वभावात्** का अर्थ यह है कि, मानसीसेवा सिद्ध होने के पूर्व एवं नुवित्तजासेवा के पश्चात् की जो अवस्था है, उस अवस्था का वस्तुस्वभाव यह है कि भले ही अभिलाषा न हो तथापि उस अवस्था में 'संसारदुःख की निवृत्ति' एवं 'ब्रह्मबोधन' ये दो फल प्राप्त होते हैं। मानसीसेवा सिद्ध करने के लिए तनुवित्तजा वा-... .... यहाँ पर मूलग्रन्थ की पंक्ति व्यवस्थित प्राप्त नहीं होती-अनुवादक।

तीयश्लोकमवतारयन्ति प्रभवः इदमेवेति, इदमित्यक्षरं ब्रह्म, परं ब्रह्मेति पुरुषोत्तम इति अत्रेति अक्षरब्रह्मेति, भेदकमिति रुषोत्तमाद्भेदकम्, एते हीति 'सच्चिदानन्दा इति, तदात्मक इति अक्षरब्रह्मात्मकः, प्रपञ्चेति श्रीभागवते प्रपञ्चवर्णनं कृत्वा तद्भगवतो रूपं ब्रह्मणः परमात्मन' इत्युपसंहारात्, एकरूपत्वेनेति 'अत:परं नान्यदणीयसो हि' परात् परम्, यन्महतो महान्तं देकमव्यक्तमनंतरूपं । विश्वं पुराणं तमसः परस्तात् श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेनेति । सर्वे वेदा यत् पदमामनंतीति, ज्ञान्युपास्यत्वेनेति । त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते । ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः । क्लेशोधिकतरस्तेषामिति गीतावाक्येन न्युपास्यत्वमक्षरब्रह्मणः, तन्मुक्तिस्थानत्वेनेति । न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनं । हृदा मनीषी नसाभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्तीति श्रुत्या ज्ञानिमुक्तिस्थानत्वम् । पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वं तु ''तदाहुरक्षरं ब्रह्म र्वकारणकारणं । विष्णोर्धाम परं साक्षात्'' इति तृतीयस्कन्धे एकादशाध्यायवाक्यात् । इत्यादिभिरित्यत्रादिपदेन 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः'', 'अणोरणीयान् महतो महीयान् करोत्यकर्तैव नेहंत्यहन्ते'त्यादयः परिगृहीताः । इदमिति ब्रह्मणि विरोधाभावनं, ब्रह्मसूत्रभाष्य इति फलमत उपपत्तेरित्यतः स्वकृते,

तीसरेश्लोक का विवेचन प्रभुचरणों ने **इदमेव** इस पंक्ति से आरम्भ किया है। आपश्री की टीका में **इदम्** का अर्थ है- अक्षरब्रह्म। **परं ब्रह्म** का अर्थ है- पुरुषोत्तम। **अत्र** का अर्थ है- अक्षरब्रह्म। **भेदकम्** का अर्थ है- पुरुषोत्तम से भेद कराने वाले अक्षरब्रह्म के धर्म। **एते हि** का अर्थ है- सत् चित् आनन्द। **तदात्मक** का अर्थ है- अक्षरब्रह्मात्मक। प्रभुचरणों ने **प्रपञ्च** को अक्षरब्रह्मात्मक बताया क्योंकि श्रीभागवत में प्रपञ्च का वर्णन करके *'एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मणः(श्री0भा-3/29/36)'* इस श्लोक द्वारा उसे अक्षरब्रह्मात्मक बताया गया है। आपश्री ने **एकरूपत्वेन** शब्द द्वारा अक्षरब्रह्म का एक रूप जो प्रपञ्च से भिन्न बताया, वह *'अतःपरं नान्यदणीयसो हि(महा0उप-5)'* इस श्रुति के आधार पर बताया है। और *'ते त्वक्षरमनिर्देश्यम्(12/3)'* इस गीतावाक्यानुसार अक्षरब्रह्म को ज्ञानियों का उपास्य उनकी मुक्ति का स्थान बताया है; और *'न संदृशे तिष्ठति रूपं(महा0उप-1)'* इस श्रुति द्वारा अक्षरब्रह्म को ज्ञानियों की मुक्ति का स्थान बताया है। और अक्षरब्रह्म को पुरुषोत्तम का अधिष्ठानरूप तो *'तदाहुरक्षरं ब्रह्म(श्री0भा-3/11/41)'* इस तृतीयस्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय के श्लोक द्वारा बताया गया है। प्रभुचरणों ने **इत्यादि** पद के द्वारा जिस श्रुति का उदाहरण दिया है, उसके संग-संग आपश्री **आदि** पद के द्वारा *"अपाणिपादौ(श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/19)","अणोरणीयान् महतो महीयान्(श्वेताश्वतर उप- 3/20)"* इत्यादि श्रुतियों को भी कह रहे हैं, यह समझना चाहिए। आपश्री के **इदम्** शब्द का अर्थ है- ब्रह्मस्वरूप के संदर्भ में जो कुछ भी विरोधाभास है, उसका निराकरण ब्रह्मसूत्र के भाष्य में स्वयं आपश्री ने ही किया है अतः आपश्री इसका निराकरण वहीं से जान लेने के लिए कह रहे हैं।

अत्र सिद्धान्तमुक्तावलीविवरणे, एतद्भाष्यकरणानंतरमेतत्करणमिति लक्ष्यते । श्लोकान्वयस्तु कृष्णस्तु हि निश्चयेन परं ब्रह्मास्ति, बृहत् सच्चिदानन्दकमस्ति, तद्धि द्विरूपमस्ति, एकं सर्वं स्यात्, एकं तस्माद् विलक्षणमपरमस्ति ।

इस पंक्ति में आपश्री के **अत्र** शब्द का अर्थ है- इस सिद्धान्तमुक्तावली के विवरण में; इससे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मसूत्र पर भाष्य करने के पश्चात् आपश्री ने यह विवरण लिखा है, तभी आपश्री ने यह कहा कि-"*इसका संदर्भ ब्रह्मसूत्रभाष्य में निरूपित किया गया है अतः विशेष जानने के लिए वहीं देख लेना चाहिए*"। पूरे श्लोक का विवरण इस प्रकार से है- कृष्ण तो निश्चितरूप से परब्रह्म हैं। बृहद(अक्षरब्रह्म)सच्चिदानन्दक है। बृहद् के दो रूप हैं- एक रूप वह जो जगतरूप से सभी कुछ बन जाता है, और एक रूप वह जो कि इससे विलक्षण(अलग) है।

स्वमते श्रुतिसंमतत्वनिरूपणार्थं परमतनिरूपणमित्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति प्रभवः विरोधेति । विरोधपरिहारस्तु भगवतः सर्वभवनसमर्थत्वेनाचिंत्यानन्तशक्तिमत्त्वेन वा । अत एव ''विरुद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव हि विचारितं'' । सांख्यमतानुसारिणः प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेप इति सिद्धान्तमाश्रित्य मायागुणकार्यं जगदिति वदन्ति,

नैयायिकास्तार्किकाः, गौतमकणादाक्षचरणादयः, ते हि परमाणवो नित्या अन्यत् सर्वमीश्वरकार्यमप्यनित्यमिति वदन्ति, मीमांसकाः जैमिनिमतानुवर्तिनः, स्वभाववादिनः जगत् स्वभावत एव भवति, न कोप्यस्य कर्तेति वदन्ति, वेदबाह्या जैनाः कौला वामाः शाक्ता इत्यादयः ।

आचार्यचरणों ने अपने मत को श्रुतिसम्मत बताने के उद्देश्य से अन्यों के मत का निरूपण किया है- यह बात कहने के आशय से प्रभुचरणों ने **विरोधपरिहाराय** यह वाली पंक्ति लिखी है। एक ही अक्षरब्रह्म दो स्वरूपों में कैसे परिणित हो सकता है, इस विरोध का परिहार तो ऐसे हो जाता है कि चूँकि ब्रह्म सर्वभवनसमर्थ है अथवा अचिन्त्य एवं अनन्तशक्तिमान है अतः इस दृष्टि से अक्षरब्रह्म के स्वरूप में प्रतीत होने वाले विरोध का परिहार हो जाता है। इसी कारण आचार्यचरणों ने निबन्ध में *'विरुद्धांश परित्यागात्(शा0प्र-9)'* इस प्रकार से कहा है। सांख्यमतानुसारी लोग तो *'प्रकृति जगत की कर्त्री है, पुरुष पुष्करपलाशवत् निर्लेप है'* इस सिद्धान्त पर आधारित होकर इस जगत को माया के गुणों का कार्य बताते हैं **अर्थात् माया अपने सत्त्वरजतम इन गुणों से जगत का निर्माण करती है- ऐसा बताते हैं**। नैयायिकों को तार्किक कहा जाता है, अर्थात् गौतम, कक्षाद, अक्षचरण आदि; वे ऐसा कहते हैं कि यह जगत परमाणु से बना हुआ है और परमाणुओं की सत्ता नित्य है। ईश्वर के अन्य सभी कार्य अनित्य हैं। मीमांसकों का अर्थ है- जैमिनि ऋषि के मत को मानने वाले; वे स्वभाववादी होते हैं अर्थात् वे ऐसा मानते हैं कि जगत स्वभाव से ही ऐसा है और इसको बनाने वाला कोई भी नहीं है। **वेदबाह्या** शब्द से प्रभुचरणों का तात्पर्य जैन, कौल, वाममार्गी एवं शाक्त इत्यादि हैं।

श्लोकान्वयस्तु तत्र पूर्वस्मिन्नपरं वादिनः मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा बहुधा जगुः । स्वमतस्य सर्वमूर्धन्यबोधनायाहुः मूले तदेवेति । ब्रह्मैवेति, एतत् परिदृश्यमानं जगत्, प्रकारेण भवतीति वर्तते नतूपद्यते, नित्यत्वात्, यतो वेत्यादिश्रुतयस्तु आविर्भावतिरोभावपराः,

पूरे श्लोक का अर्थ इस प्रकार से है- अक्षरब्रह्म के दो रूपों में से दूसरे वाले जगतरूप अक्षरब्रह्म को वादियों ने अनेक प्रकार से कहा है, जैसे कि 'मायिक(**अद्वैतवादी**)','सगुण(**सांख्यवादी**)','कार्य(**नैयायिक**)','स्वतन्त्र(**मीमांसक**)' इत्यादि अनेक प्रकार का कहा है। अपने मत को सर्वश्रेष्ठ बताने के लिए आचार्यचरणों ने मूलग्रन्थ में **तदेव** यह वाली कारिका लिखी है। **तदेव** का अर्थ है ब्रह्मैव; अर्थात् ब्रह्म ही उपरोक्त प्रकार से अक्षरब्रह्म इत्यादि रूपों में परिवर्तित हो जाता है- यह आचार्यचरणों का आशय है। **तदेव** इस कारिका का अर्थ है- ब्रह्म इस परिदृश्यमान जगत के रूप में बन जाता है, न कि उत्पन्न होता है; ऐसा इसलिए क्योंकि ब्रह्म की सत्ता तो नित्य है और इसलिए भी क्योंकि *'यतो वा(तैत्तिरीय उप- 3/1/1)'* इत्यादि श्रुतियाँ जगत के आविर्भाव-तिरोभाव को ही दर्शाती हैं।

स्वमतेति प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाभवत् इत्यादि रूपस्य, श्लोकान्वयस्तु तदेवैतत् इति स्पष्टं, अस्तीत्यध्याहारः, द्विरूपमपि च गङ्गावत् ज्ञेयं, सा जलरूपिणीत्युत्तरेणान्वेति, सा गङ्गा जलरूपं शीलं यस्या एतादृश्येका आधिभौतिकी प्रथमा । पूर्वमक्षरात्मकस्यैवेति परमतनिराकरणासंभवात्, सेवां कुर्वाणानां भोगमोक्षप्रदाध्यात्मिकी द्वितीया, सा च यथा अक्षरं ब्रह्म पुरुषोत्तमाधिष्ठानं, यथाधिदैविकं गङ्गारूपाधिष्ठानं, यतः प्रसन्ना गङ्गा आधिदैविकी स्वं स्वामिनीरूपं निजभक्तेभ्यो दर्शयति, यथा भगीरथाय प्रदर्शितं, तदुक्तं श्रीमद्भागवते नवमस्कन्धे नवमाध्याये 'दर्शयामास तं देवी प्रसन्ना वरदास्मि ते' इत्यादिना, माहात्म्यमपि तत्रैव 'भगीरथः स राजर्षिः निन्ये भुवनपाविनीं । यत्र स्वपितॄणां देहा भस्मीभूताः स्म शेरते । रथेन वायुवेगेन प्रयांतमनुधावती । देशान् पुनन्ती निर्दग्धानासिञ्चत् । सगरात्मजान् यज्जलस्पर्शमात्रेण ब्रह्मदंडहता अपि । सगरात्मजा दिवं जग्मुः केवलं देहभस्मभिः । भस्मीभूतांगसंगेन स्वर्याताः सगरात्मजाः । किं पुनः श्रद्धया देवीं ये सेवन्ते धृतव्रताः । श्लोकान्वयस्तु सा जलरूपिणी मर्यादामार्गविधिना सेवां कुर्वतां नृणां माहात्म्यसंयुता भक्तिमुक्तिदा तथा ब्रह्मापि बुध्यताम् ।।६।।

स्वमत शब्द से प्रभुचरणों का तात्पर्य निबन्ध में 'प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाभवत्(शा0प्र-23)' इस वाक्य द्वारा कहा गया स्वमत है। श्लोक का अन्वय करने में **तदेवैतत्** यह पद तो स्पष्ट है अतः श्लोक के संग केवल 'अस्ति' पद को जोड़कर अर्थ करना चाहिए।

अर्थात् श्लोक का अन्वय इस प्रकार से करना चाहिए......

तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम् अस्ति।

द्विरूपं चापि गंगावज्ज्ञेयम् ॥5॥

सा (1)जलरूपिणी, (2)माहात्म्यसंयुता मर्यादामार्गविधिना नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा।

इसका प्रकार से अन्वय करने पर अर्थ यों होगा- अक्षरब्रह्म के दो रूपों को गंगा की भाँति समझना चाहिए; **जलरूपिणी** यानि प्रथम रूप तो आधिभौतिकी जलरूपा गंगा है**(इसके आगे की पूर्वम्......असंभवात् यह पंक्ति स्पष्ट नहीं हुई-अनुवादक)**और उसी जल की सेवा करने वालों को भोगमोक्ष देने वाली गंगा का तीर्थरूप उसका दूसरा आध्यात्मिकस्वरूप है। गंगा का यह आध्यात्मिकस्वरूप ठीक उसी प्रकार का है, जिस प्रकार से अक्षरब्रह्म पुरुषोत्तम का अधिष्ठानस्वरूप है। गंगा का आध्यात्मिकस्वरूप इसलिए अलग से सिद्ध होता है क्योंकि प्रसन्न होने पर गंगा तो अलग से अपने देवीस्वरूप के दर्शन निजभक्तों को देती है, जिस प्रकार से भगीरथ को दर्शन दिए थे। यही बात श्रीभागवत के नवमस्कन्ध के नवमाध्याय में *'दर्शयामास तं देवी(श्री0भा-9/9/3)'* इत्यादि वाक्यों द्वारा कही गयी है। गंगा का माहात्म्य भी वहीं *'भगीरथः स राजर्षिः(श्री0भा-9/9/10)'* इत्यादि वाक्यों द्वारा बताया गया है। पूरे श्लोक का अन्वय इस प्रकार से है- जिस प्रकार से जलरूपा गंगा का माहात्म्य समझते हुए मर्यादामार्ग की विधि द्वारा अपनी सेवा करने वालों को गंगा भक्ति और मुक्ति देती है, ठीक इसी प्रकार गंगा के इन्हीं स्वरूपों द्वारा ब्रह्म का स्वरूप भी समझ लेना चाहिए॥6॥